

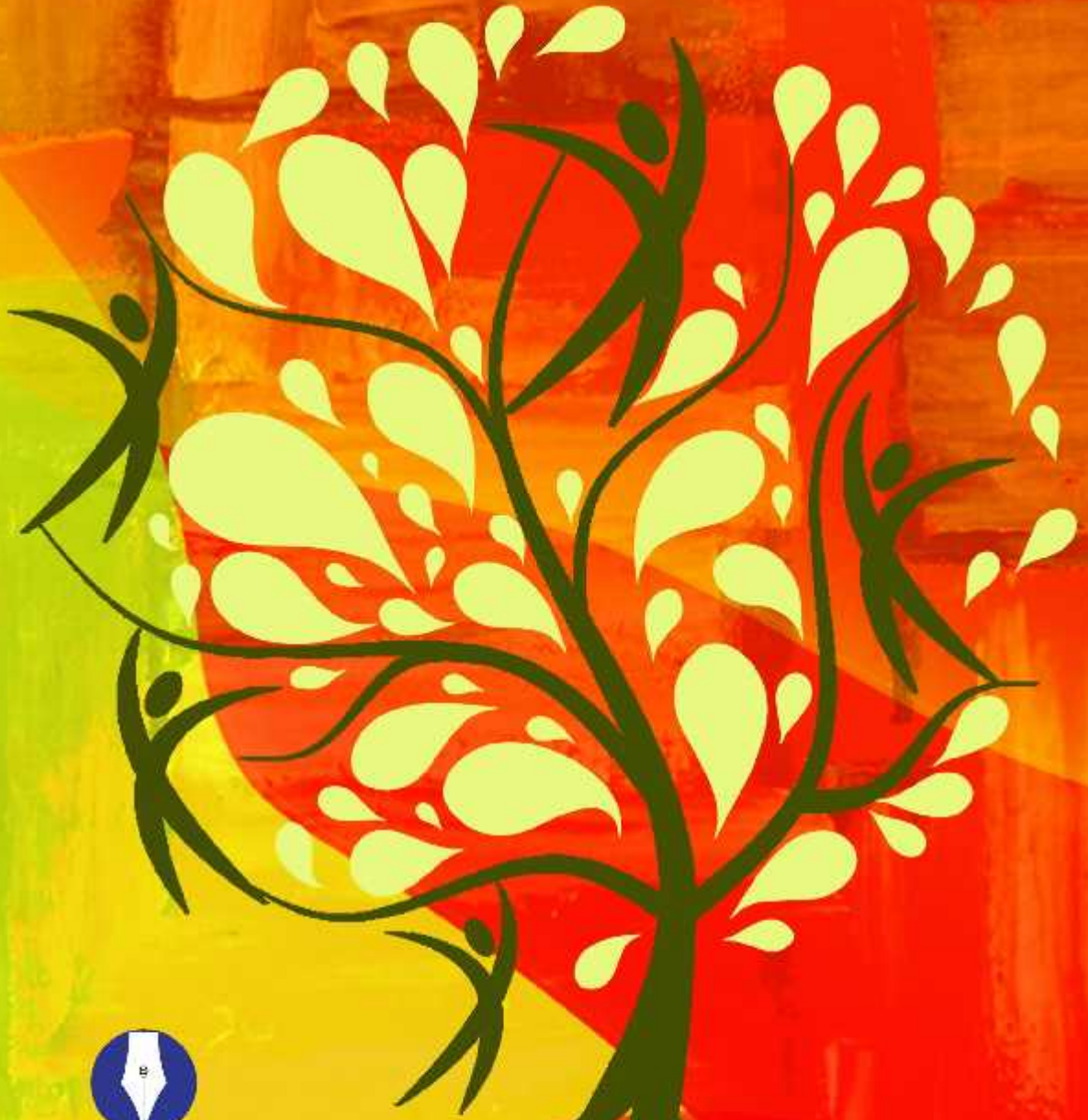
ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का



वर्ष: 07, अंक: 25, जनवरी मार्च 2020

मुक्ताचल



विद्यार्थी मंच

मूल्य : 50 रुपये

रजत अंक

उस पार से ...

रमणिका गुप्ता
(22 अप्रैल 1930 - 26 मार्च 2019)



इतनी जिजीविषा

अब बंद आँखों में ही
किरणों की किरचें चमक-चमक
रचने लगी हैं
रोशनी का गोला
आँखें खोलकर उन्हें देखूँ
तो शायद जलने लग जाए सूरज
तो रोशनी की ये लकीरें
झायरी में उतर आई हैं
साँझ की जद्दोजहद
रात भर इंतजार करती हैं
सुबह की विजय का
पर हारती नहीं
रात से
इतनी जिजीविषा

इतनी आस
इतना विश्वास
अदम्य हौसला
सूखने नहीं देता
कलम की स्याही
रात की स्याही लेकर मैं
सुबह का गीत लिख लेती हूँ
तारों की कड़ियाँ ले कर
सुबह की रोशनी रच लेती हूँ
टेसू की चिंगारी से जला देती हूँ
अँधेरे के जंगल
पर हारती नहीं हूँ
न हारूँगी मैं
हारना मेरी नियति नहीं।

प्रतिनिधि कविताएँ

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-7, अंक- 25, जनवरी-मार्च 2020

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पाण्डेय
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
आकल्पक : सोनू प्रजापति

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विनीता लाल, परमजीत कुमार पंडित, विनोद यादव,
पार्वती शॉ, प्रभा उपाध्याय, गुड़िया राय, विद्या रजक
नगीना लाल दास एवं सुधा शर्मा।

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. शशि मुदीराजः प्राक्तन अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
सेन्ट्रल यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
प्रो. अरुण होताः अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारीः विश्व भारती, शांति निकेतन
प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
विद्यासागर विश्वविद्यालय
प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय
डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल
डॉ. शुभा उपाध्यायः खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता
सुलेखा कुमारी : विद्यासागर कॉलेज, कोलकाता
रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (आटोनोमस), मिदनापुर
निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल
रामप्रवेश रजकः हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय
रीता सिन्हा : हिंदी विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 1686, 09831497320,
9681105070
ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
sinhameera48@gmail.com

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में प्रकाशन
हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word) या
(Kurtidev010) में भेजें।

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK
BURRABAZAR, KOLKATA- 700007,
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700 009

पत्रिका का मूल्य

एक अंक- 50 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 200 रुपये, आजीवन-2000 रुपये
संस्थाओं के लिए: वार्षिक- 250 रुपये, आजीवन-2500 रुपये
डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये देय
होगा।

संपर्क एवं प्रसार:

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229
मनीष कुमार सिन्हा (दिल्ली) : 9716927587
मधु सिंह (कोलकाता) : 9883613002

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षा	08 पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' :	केदारनाथ सिंह की बात : होना रचना और रचनाकार के साथ
	21 श्रीनारायण पाण्डेय :	रामचरितमानस में हनुमान
	28 शशिभूषण द्विवेदी :	हिंदी में नई संस्कृति के तीन स्रोत
	32 सुनीता गुप्ता :	रमणिका गुप्ता : स्त्री कविता का नया सौन्दर्यशास्त्र
	अनुशीलन	
	36 रामनिहाल गुंजन :	हिंदी उपन्यासों में नारी-विमर्श : 'अर्द्धनारीश्वर' का विशेष संदर्भ
	41 डॉ. रीता सिन्हा :	अखिलेश का समाजशास्त्र और 'निर्वासन'
	45 डॉ. सारदा बैनर्जी :	रूपक-कथा, न्याय और जनतंत्र : कितने पाकिस्तान
	53 विनय कुमार मिश्र :	भारतेंदु की मल्लिका : मल्लिका के ज्यू
	संस्मरण	
जनन	58 डॉ. राणा प्रताप :	इंक्विलाब पुस्तकों से होकर गुजर रहा है
	शोधार्थी की कलम से	
	61 दुर्गावती प्रसाद :	स्त्री की दृष्टि में स्त्री और समकालीन हिंदी कविता
	69 किरीट देबनाथ :	नरेंद्र कोहली का रचना संसार : सागर मंथन में सांस्कृतिक चिंता
संचार	74 रीमा गुप्ता :	मुक्तिबोध के काव्य में सामाजिक सरोकार
	समय की शिला पर	
	77 अशोक सिंह :	मेरी कविता का मूल स्वर प्रेम और विद्रोह है
	कविता	
	84 विजेंद्र :	तुम सुनो, सोचता हूँ, आगमन, चढ़ाई, धरती का तल, अनाम, रेखाएँ, व्यथा

शोध	87 अंजना वर्मा :	कविता लिखती है एक औरत, बीत गया ज़माना, नमक की तरह
	89 देवनाथ द्विवेदी :	चमड़ी से दमड़ी का रिश्ता, भेड़ियों की चमकती आँखें, फलों के मौसम में, स्कूल जाती लड़कियाँ
	91 शुभ्रा उपाध्याय :	में कर सकती थी, क्यों नहीं कहते, औरत की कमाई
	93 डॉ. सुनील कुमार शर्मा :	मुस्कुराती तुम्हारी मुस्कान, तुम ही से सीखना होगा, बदलियों पर, वहम ही रहा
समीक्षा	95 ज्योति स्पर्श :	एक दुनिया, स्वाद
	96 अनिता रश्मि :	रास्ते, विश्व गुरु, उस दिन, किचें
	97 धर्मपाल महेंद्र जैन :	चाँदनी ने कहा था मुझे, माँ तुम कैसे हँस लेती हो
	98 निवेदिता :	में अब भूलने लगा हूँ, दिल के खोह से बाहर निकल आओ प्रेम
गण	सरगम के सुर साधे	
	99 उद्भ्रांत :	मेरी कविता मेरे समय का प्रामाणिक दस्तावेज है
	कहानी	
	103 सुषमा मुनीन्द्र :	कायाकल्प
ज	111 डॉ. कविता विकास :	अब मेरी बारी है
	116 उर्मिला शुक्ल :	कहानी –कउआ हँकनी की
	प्रवासी कलम	
	120 रमा जोशी :	ऐसी लड़कियाँ
संज्ञा	पुस्तकायन	
	126 विमल वर्मा :	सामाजिक ढांचा : संवेदनात्मक संबंध
	132 डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल :	‘अपनी गठरी’ के अनमोल रत्न
	अभिमत	

संस्तुति

मुक्तांचल के पच्चीसवें अंक के साथ प्रत्यावलोकन की जरूरत महसूस कर रही हूँ। उन सभी विद्यार्थी साथियों के प्रति मैं आभार व्यक्त किये बगैर नहीं रह सकती जो मेरे साथ रहे हैं और मेरी निरंतरता को लड़खड़ाने से बचाया है। सबसे पहले 'विद्यार्थी मंच' के माध्यम से जुटे तमाम अध्येताओं के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने मेरे संकल्प को वास्तविक रूप देने में मेरी मदद की। मुझे बाहर निकाला और खड़ा कर दिया। उन सबकी प्रेरणा को मुक्तांचल के पच्चीसवें पायदान से मैं प्रणाम करती हूँ। मेरे पास उन सबको देने के लिए सम्मान बोध के सिवा और कुछ नहीं है। जानती हूँ आज की दुनिया में दिये जाने वाले ईमानदार उपहार का कोई मूल्य नहीं होता क्योंकि लोग उसमें भी स्वार्थ की महक तलाशने लगते हैं और जब तक कन्फर्म न हो लें, चैन नहीं लेते। उनका 'कम्फर्ट जोन' जैसे डिस्टर्ब हो जाता है। फिर भी, उन सभी विद्यार्थियों अध्येताओं एवं शोधार्थियों से मेरा आग्रह है कि वे पुनः—पुनः 'मुक्तांचल' से जुड़ें और उसे समृद्ध करें। यह अकादमिक पत्रिका उनकी थाती है। इसमें 'सब' है एक, दो, तीन नहीं।

मैं शुक्रगुजार हूँ उन सभी लेखकों एवं रचनाकारों का जिन्होंने अपनी रचनाओं से 'मुक्तांचल' को सदा सजाया है और उसे स्तरीयता दी है। वे सभी 'मुक्तांचल' में लिखने वाले एक भरे पूरे परिवार की तरह हैं जो कभी सन्नाटा नहीं पसरने देते। तो फिर चलते हैं, पच्चीस से पचासवें की यात्रा की तरफ आप सबके सहयोग के सम्बल के साथ।

पुनश्च,

विश्वव्यापी महामारी कोरोना ने हठात ही ब्रेक लगा दिया और लॉकडाउन के दरम्यान पत्रिका प्रेस से बाहर नहीं आ सकी। हम अपने-अपने में नजरबंद होने के लिए बाध्य हो गये। अस्तु, अंक को अब तीन महीने के पश्चात प्रकाशित किया जा रहा है। इस बीच कई सारे विमर्श अंतर्जाल की दुनिया में उभरकर आ रहे हैं। साहित्य कहीं सन्नाटे के सुपुर्द हो गया है।

आभासी दुनिया से साहित्य के बुलबुले उठ रहे हैं। लगता है पूरा बेड़ा ही गर्क है लेकिन फुर्सत से लिखने वालों के पास अपार समय है और वे कोरोना काल को साहित्य का स्वर्ण काल कह रहे हैं। मनुष्य मात्र की यंत्रणा को सेलिब्रेट करने का कितना संवेदनहीन तरीका है। क्या जब मनुष्यता जार-जार रोती है तभी साहित्य का स्वर्णयुग आता है ?

आभासी दुनिया में साहित्य का फैलाव बढ़ रहा है। प्रोडक्ट के विज्ञापन की तरह साहित्यकार विज्ञापन बाजार में उतर आये हैं। आज हम समुदाय में असुरक्षित और एकांत में सुरक्षा महसूस कर रहे हैं। हठात

ही कोरोना की महामारी ने हमारे जीवन को असुरक्षा और आशंका की बेड़ियों से जकड़ दिया है। 'सोशल डिस्टेंसिंग' की भाषा ने हमारे जीवन को नये मिजाज में ढाल दिया है। हत्या और आत्महत्या प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ते जा रहे हैं। एम्बुलेंस के सायरन की आवाज मृत्यु की दस्तक बन विचलित करती रहती है। पूरी की पूरी दुनिया एक साथ महामारी के दौर से गुजर रही है। साहित्य इस संकट को प्रतिबिम्बित करने की जिम्मेदारी का निर्वाह किस रूप में कर पायेगा, नहीं मालूम। आभासी दुनिया में सिमट रहा है साहित्य; जहाँ फुर्सत, अकेलापन, आत्मप्रचार का बोलबाला है। सच तो यह है कि तर्क की जगह कुतर्क और संघर्ष की जगह बवाल ने अपनी जगह बना ली है। साहित्य में भी विचार और विश्लेषण को गहरा झटका लगा है। इस कठिन समय में भी हमें आशंका और भय के कुहासे से निकलकर मनुष्यता के पक्ष में खड़े होना है। सत्य को सुंदर में बदलने के लिए कटिबद्ध शिव-संकल्प लेना है। दरअसल, संकट की यह घड़ी अपनी भयावहता से हमें कमजोर कर रही है और हम विवेक से वंचना की तरफ भाग रहे हैं। ऐसे में साहित्यिक विधाओं एवं उसके रचनाकारों के लिए भी कुछ जटिल मापदण्ड खड़ा कर लेने की होड़ सी लगी है। परंतु सीधे-सीधे आईना दिखाते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा था जो आज भी सत्य है और सदा रहेगा। कला में सौ तरकीबें ढूँढने वाले इससे भागने की कोशिश भले ही कर लें हासिल कुछ नहीं होगा। सत्य सामने खड़ा है उसे परिधान पहनाने की जरूरत नहीं होती, फर्क इतना ही होता है कि रचनाकार या कलाकार किस हद तक संवेदित होता है और किस ईमानदारी से संप्रेषित कर पाता है।

'कबीरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ जो घर जारे आपना आओ हमारे साथ' जैसी उद्घोषणा करने में असमर्थ साहित्य, कला-संस्कृति से जुड़ा समाज अपने सुंदर महफिल में ही सुरक्षित रहता है। उनके लिए सत्य, शिव और सुंदर नहीं सिर्फ स्वार्थ है। वाह-वाही पाने के सबब से कुछ बड़ा कर दिखाने की कोशिश भर साहित्य नहीं होता लेकिन आज यही सब आम है। आत्मग्रस्तता और प्रचारवाद आज के बाजार की बड़ी कीमत पाने की बाजी लगा रहा है। बुराईयों को लुकाठी लगाने का दम-खम कहीं नहीं दिखाई देता।

अपवाद के रूप में 'मुक्तांचल' और 'विद्यार्थी मंच' कुछ ईमानदार कोशिशों में जुटा हुआ है और निरंतर जुटा रहेगा। हम 'ब्राण्ड' और 'हाईलाइट' जैसे जगमग शब्दों के मकड़जाल से मुक्त हैं। हम 'खास' की उपासना से दूर 'आम' के संग साथ पर भरोसा रखते हैं।

श्रीर सिंह

संपादक

केदारनाथ सिंह की बात : होना रचना और रचनाकार के साथ ! पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

आज याद करता हूँ तो अपना स्नातकोत्तर छात्र-जीवन याद आता है, जब केदारनाथ सिंह के गीत की एक कड़ी मेरी जिह्वा पर बस गई थी। मैं प्रायः इस एक पंक्ति को गुनगुनाया करता था- “झरने लगे नीम के पत्ते/ बढ़ने लगी उदासी मन की।” तब मैं सोचा करता था कि नीम के पत्तों के झरने और उसके नंगे पड़ जाने, टूट हो जाने का अपना एक उचाट सूनापन होता है और मौसम के सूनापन से जुड़कर यह भीतरी उदासी का राग बन जाता है। इस कविता में मन की उदासी के बढ़ने का जो अनुभव कवि करता है वह केवल बाहरी मौसम का प्रभाव है या कि मन के भीतर भी कामनाओं की पत्तियों के झरते जाने की आंतरिक उदासी का राग भी है? फिर भी अधिक देर तक मैं द्वंद्व में झूलता नहीं रह पाता था। बाह्य और अंतर का यह युगपत संश्लेष केदार जी को एक सच्चे कवि के रूप में जानने और समझने की प्रेरणा दे जाता था।

केदार जी की एक और कविता तब सुनने और पढ़ने को मिली जब मैं हिंदी का प्राध्यापक बन चुका था और एक संगोष्ठी में एक शैलीविद वक्ता को सुन रहा था। वक्ता थे डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव और जिस कविता का वह विश्लेषण कर रहे थे उस कविता के बीच की दो पंक्तियाँ थीं- “आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी/ हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है।” श्रीवास्तव जी ने इस कविता की वाक्य-रचना और बिंबों का विश्लेषण किया था, पर उस संबोधन को सुनते समय मेरा ध्यान उनके विश्लेषण पर कम और इस कविता की आंतरिक संरचना पर अधिक था, जो मेरे भीतर गूँजने लगी थी। यह कविता मुझे भीतर से बाँध ले रही थी, क्योंकि यह कविता अनागत के विशेष मनोभाव को व्यक्त करने वाली थी, जिसमें प्रतीक्षित अनागत का अहसास था। उसके विरुद्ध कहीं भी स्थिर होकर रुकने की भीतरी मनाही थी। एक खटके की बात थी। यह खटका ही कवि के मानस को उस अनागत के लिए बेचैन किए दे रहा था। अनागत के विरुद्ध किसी अनिष्टकारी घटना की आशंका और दुश्चिंता थी, या उसका कोई प्रत्यक्ष संकेत था या जिस को पहचानने के कारण वह अपनी मानसिकता में स्थिर नहीं हो पा रहा था। यह अनागत उनकी मानसिकता में उतर चुका था। अब मैं सोचता हूँ कि यह अनागत के लिए उनकी मानसिकता की बेचैनी थी, क्योंकि वह उसे अपने देश-काल में मूर्तिमान और साकार करना चाहते थे। यह उन्हें लगातार अभिप्रेरित और संलग्न किए थी। यह मूलतः अनागत को कवि-कर्म में उतारने की बेचैनी थी।

केदार जी जहाँ कहीं भी हों विषय-वस्तुओं पर उनका आंतरिक मंथन चलता ही रहता था, जो उन्हें नयी दृष्टि के साथ रचनाकर्म के लिए अनुप्रेरित-अभिप्रेरित करता रहता था। केदार जी बाह्य संरचना के दस्तावेजीकरण से कहीं अधिक आंतरिक कलाकरणात्मक संरचना के कवि थे। उनकी कविताएँ अर्थपूर्ण दृष्टि की सृष्टि हैं। केदार जी की कविताओं में संकेत बोलते हैं और नये प्रतीक सुविन्यस्त होते हैं गाँव के स्वाभाविक परिवेश को उनकी कविता निरूपित करती है। विचारधारा से जनचरित्र होने के बावजूद उनकी कविताओं में विश्वदृष्टि का कोलाहल कम है। एक तरह की आवृत भाव-संपदा और एक ही तरह का शिल्प-विन्यास उनकी कविताओं में नहीं, आ पाता है। यही नहीं, जनवाद के अतिरिक्त उनकी निजी तथा अन्य संदृष्टियों का भी उनकी काव्य-सृष्टि में समाहार है। वह परिवार की बात करते हैं तो उनका परिवार पूरा देश बन जाता है, क्योंकि उनकी कविता में कमरा भी पूरे देश का अर्थ देने

लगता है। इस दृष्टि से एक ओर अपनी काव्य-रचना में वह भर्तृहरि के 'प्रतिभा-वाक्यार्थ' की सृष्टि करते हैं, दूसरी ओर देरिदा जिस अनुपस्थित में अर्थ की खोज करना है और उपस्थित अर्थ को नकार देता है, केदार जी, भी अपनी कविता से उसी अदृष्ट अर्थ को ज्ञापित करते हैं जो उनकी शब्द-रचना के महज कुल योग से व्यक्त नहीं हो पाता है और उसमें अनुपस्थित रह जाता है।

इस दृष्टि से केदार जी की तीन कविताओं की साभिप्रायता जानने योग्य है। इनमें पहली कविता है 'एक पारिवारिक प्रश्न', दूसरी कविता है 'अनागत' तथा तीसरी कविता है 'विद्रोह'।

'एक पारिवारिक प्रश्न' में कवि का प्रश्न निजी नहीं है। वह सार्वजनिक प्रश्न है। कविता में प्रश्न का विस्थलीकरण किया गया है। प्रश्न मस्तिष्क में होता है, पर यहाँ प्रश्न मुट्ठी में है। इस प्रश्न का समाधान भी मस्तिष्क और हृदय से संबंधित है, मुट्ठी से नहीं। यहाँ गुलाब भी सामान्य गुलाब नहीं है। जब कवि यह कहता है- "छोटे से आँगन में/ माँ ने लगाए हैं/ तुलसी के बिरवे दो/ पिता ने लगाया है/ बरगद छतनार/ मैं अपना नन्हा गुलाब/ कहाँ रोप दूँ?/ मुट्ठी में प्रश्न लिए/ दौड़ रहा हूँ वन-वन/ पर्वत-पर्वत/ रेती-रेती.../ बेकार"- तब यह छोटा-सा आँगन वास्तव में विभाजन के बाद हमारे देश का छोटा आँगन है। माँ भी यहाँ किसी परिवार की माँ नहीं है। वह भारत माता है, जिसने तुलसी के दो बिरवे लगाए हैं। विभाजन के समय ही अपने देश में हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोगों को समान स्थान दिया गया था। धर्मनिरपेक्ष भाव ने जन्म लिया था। हिंदू भी उतने ही पवित्र और मुसलमान भी उतने ही पवित्र। आजाद देश में दोनों तुलसी की तरह पवित्र बिरवे के रूप में उभरे। भेद-भाव के विपरीत अभेद की रचना करते हुए। इनमें किसी प्रकार की कोई भिन्नता नहीं, कोई भेद नहीं। यह मनुष्य के दो बिरवे हैं। पिता और कोई नहीं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी हैं। बरगद छतनार उन्होंने ही लगाया है। बरगद नए रचे जा रहे इतिहास का वृक्ष है। बरगद जहाँ आजादी को

और धर्मनिरपेक्ष देश के नए इतिहास को व्यंजित करता है, वही यह विशाल मानवीयता को भी संकेतित करता है। माँ के लगाए गए बिरवे आजादी के बाद के हैं, पर पिता ने जो बरगद लगाया है वह आजादी के पहले का है। तभी वह आजादी के बाद छतनार होकर छाया दे रहा है। इन्हीं सब कारणों से भारत एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र बना। इस प्रकार यह कविता एक सामान्य पारिवारिक प्रश्न बनकर नहीं रह जाती, जिसकी गवाही इसमें उपस्थित शब्दावली देती है; बल्कि यह पूरे देश को एक पूरे परिवार के रूप में प्रस्तुत करती है और देश-रूपी परिवार के सवाल उठाती है। पर यह अर्थ कविता की भाषिक बाह्य संरचना में अनुपस्थित है। इसका वाक्यार्थ- प्रतिभा से, अनुपस्थित की तलाश में पाया जा सका है। केदार जी की कविता अर्थ-चिह्नों (Trace) से भरी होती है। उसका रेखांकन उसके अर्थ-गह्वर में प्रवेश कर पाठक को करना होता है और उसमें जो अनुपस्थित है उसे प्राप्त करना होता है। अब रहा प्रश्न नन्हें गुलाब को लगाने की जगह का? इस आँगन में उतनी जगह को होनी चाहिए ही थी, पर गुलाब यहाँ नहीं रोपा जा पाता। यहाँ तक आते-आते केदार जी फंतासी की हल्की-सी पर्त बुनते हैं। वह वन-वन, पर्वत-पर्वत, रेती-रेती वाचक को दौड़ाते हैं। पर उसे कहीं भी नन्हा गुलाब रोपने की जगह नहीं मिल पाती है। आखिर नन्हें गुलाब को लगाने की जगह है कहाँ? वास्तव में यहाँ नन्हा गुलाब लगाने की जगह 'हृदय' है, मिट्टी और धरती नहीं। प्रेम, अहिंसा, शांति, भाईचारा, सद्भाव यह सब हृदय में रहते हैं। 'मैं' इस कविता का एकवचनीय वाचक है, जो लगातार दौड़ लगाता जाता है कि वह कहाँ और किस मनुष्य के हृदय में इसे रोपे? पर वह जहाँ भी गया उसे हिंस्र हृदय (वन-वन) मिला, निर्मम और कठोर हृदय मिला (पर्वत-पर्वत), अनुर्वर हृदय मिला (रेती-रेती), वह गुलाब कहाँ रोपता? उसने अनुभव किया, अपने देश में इस लायक कोई हृदय-स्थल नहीं है। तब क्या उसकी दौड़ बेकार हो गई या उसकी दौड़ बेकार थी? यह प्रश्न अब तक अस्तित्वान है। वह हिंस्र, निर्मम, कठोर और अनुर्वर में यह गुलाब नहीं रोप सकता।

वस्तुतः हृदय ही प्रेम-शांति और अमन-चैन का स्थल है, जहाँ गुलाब का पौधा आजादी के बाद देश के लोगों के हृदय में लगाया जा सकता था। आज भी यह रोपा जा सकता है। पर इस देश में तब के हम करोड़ों पुत्र और आज की हम सवा अरब मानव-संतान इसे रोपने से विमुख हैं। कविता का बेकार शब्द यहीं आकर अपनी सार्थकता प्राप्त करता है, क्योंकि हमारे हृदय में गुलाब का नन्हा पौधा कोई और रोप नहीं सकता। उस प्रेम-रूप को हम स्वयं ही अपने-अपने हृदय में लगा सकते हैं और काँटों की सहनशीलता के बीच ही हम यह गुलाब लगा सकते हैं। प्रेम स्वयं इसके लिए हमें अभिप्रेरित कर रहा है। गुलाब रोपने की प्रक्रिया में हमें हिंस्र अंधकार, पाषाणी निर्ममता और रेतीली अनुर्वरता को मिटाने की आवश्यकता है, जिससे गुलाब रोपने की जगह तैयार हो सकें।

केदारनाथ सिंह व्यंजना में कहते हैं- यह नन्हा-सा गुलाब कहाँ रोप दूँ? और यह व्यंजित कर देते हैं कि कुकुरमुत्ता भले ही 'उगाया नहीं उगता', पर प्रेम और शांति की टहनी लगाए लगती है, उगाए उगती है। आज ७१ वर्ष बीत जाने के बाद भी इस कविता को यह प्रतीक्षा है कि हमारा समाज, हमारे सामाजिक संगठन हमारी सरकार और हम स्वयं यह प्रयास कर पाएँ कि हम गुलाब को अपने-अपने हृदय में स्वयं उगा सकें और खिला सकें। केदार जी की यह छोटी-सी कविता पाठक के काव्य-विवेक को झकझोरती है। यह पूरी कविता एक चुनौती है, गुलाब को हृदय में लगाने का आत्म-संस्कार विकसित करने के नजरिए से। दूसरों के द्वारा लगाए जाने का प्रयत्न तो बेकार ही रहेगा। यह तभी सार्थक होगा जब हम सभी इसे अपने-अपने हृदय में रोप सकें। केदार जी की कविता की इस अर्थगर्भी गुणात्मकता की पहचान अभी तक उनके पाठकों और आलोचकों द्वारा नहीं की जा सकी है। यह कविता १९५७ में लिखी गई थी और इसने केदारनाथ सिंह को तभी एक बड़ा कवि बना दिया था।

केदार जी की दूसरी कविता 'अनागत' इस प्रकार है- "इस अनागत को करें क्या? जो कि अक्सर बिना सोचे,

बिना जाने/सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है।/ किताबों में घूमता है,/ रात की वीरान गलियों पार गाता है/ रात के हर मोड़ से होकर गुजर जाता/दिन-ढ़ले सुने घरों में लौट आता है/ बाँसुरी को छेड़ता है/ खिड़कियों के बंद शीशे तोड़ जाता है/ किताबों पर लिखे नामों को मिटा देता/ बिस्तरों पर छाप अपनी छोड़ जाता है।/इस अनागत का करें क्या- जो न आता है, न जाता है/ आज कल ठहरा नहीं जाता कहीं भी/ हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है/ कौन जाने, कब, कहाँ वह दीख जाए/ हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है/ इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है/ हाथ उसके/ हाथ में आकर बिछल जाते/ स्पर्श उसका/ धमनियों को रौंद जाता है।/ पंख/ उसकी सुनहली परछाइयों में खो गए हैं/ पाँव/ उसके कुहासे में छटपटाते हैं/ इस अनागत का करें क्या हम/ कि जिसकी सीढ़ियों की ओर/ बरबस खिंचे जाते हैं।"

केदार जी के इस 'अनागत' की पहचान न तो हिंदी में नामवरी लूटने वाले आलोचक नामवर सिंह से हो पाई है और न शैलीवैज्ञानिक आलोचना को हिंदी में स्थापित करने वाले भाषाविज्ञानी आलोचक रवींद्रनाथ श्रीवास्तव से संभव हो पाई है। नामवर सिंह को यह कविता नहीं भाती, ठीक वैसे ही जैसे नंद किशोर देवराज को 'छायावाद की शवपरीक्षा में' महादेवी वर्मा की 'मैं नीर भरी दुख की बदली' कविता पसंद नहीं आई थी और उसमें जिस क्रमहीनता और कथ्य की तार्किक संसक्ति नहीं होने का जो आरोप उन्होंने लगाया था, वैसा ही आरोप नामवर सिंह भी इस कविता पर करते हैं- "क्या इन बिंबों के बीच कोई निश्चित अनुक्रम है? स्पष्ट है, कोई क्रम नहीं है। दरपनों के कौंधने के बाद हाथ से हाथ बिछलने का चित्र है। फिर स्पर्श से, धमनियों के रौंदे जाने का और इसके तुरंत बाद वह फरिश्ता बन जाता है, जिसके पंख सुनहली परछाइयों में खोए हुए हैं और पाँव कुहासे में छटपटाते हैं। क्या इस क्रमहीनता के द्वारा कवि यह बताना चाहता है कि अनागत के आने में कोई क्रम नहीं है।" (नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन,

प्रथम संस्करण, १९६८, पृष्ठ-१२६) नामवर सिंह की इस टिप्पणी पर इतना ही कहना होगा कि उन्हें इस कविता की वाह्य संरचना से पूरी तरह गुजर जाने के बाद भी इसकी गहन संरचना में विन्यस्त अनागत की पहचान नहीं हो सकी है। वह यह नहीं बता पाते हैं कि इस कविता में जो 'अनागत' विशेषण अपने प्रकार्य में संज्ञा का रूप ले रहा है और जिसके लिए इस कविता में बार-बार जिस सर्वनाम का प्रयोग किया जा रहा है, वह अनागत कौन है? खैरियत यही है कि नामवर जी ने इस कविता को देवराज की तरह महादेवी वर्मा की उक्त कविता को फिर से सुधार कर लिखने का दुस्साहस नहीं किया है और वह केदार जी की इस कविता में बाहरी संरचना से ही उलझकर रह गए हैं और उसकी आंतरिक संरचना में, उसके अर्थ-गहवर में प्रवेश नहीं कर पाएँ हैं।

रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने इस कविता को समझने की दिशा में पहल तो की है पर वह पहल भी उनके साहित्य-विवेक और जागतिक विवेक की साझेदारी का प्रमाण नहीं बन पाता, कवि ने जिस प्रतिभ शक्ति से कविता के कथ्य को अपनी अभिव्यंजना में समाविष्ट समाहित कर रखा है, उसे वह खोल नहीं पाते हैं और जिस तरह रामस्वरूप चतुर्वेदी अपनी असफल आलोचक-दृष्टि में अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' को रचना-प्रक्रिया से जोड़कर रह जाते हैं, कुछ इसी तरह का अनुकरणात्मक प्रयास यहाँ श्रीवास्तव भी करते हैं- "अनागत कविता वस्तुतः सृजनात्मक प्रक्रिया के एक विशिष्ट पक्ष पर आधारित कविता है। वह काव्यवस्तु के रूप में संवेदनाओं की स्वीकृति की कविता है। विवस ने (१९५५:२१२-१६) काव्य-चेतना और सांस्कृतिक मूल्यों के संदर्भ में काव्यवस्तु की तीन निश्चित अवस्थाओं की ओर संकेत किया है। पहली अवस्था चेतना को भाषाबद्ध होने के पूर्व की अवस्था होती है जहाँ चेतना तरलावस्था में रहती है...। दूसरी अवस्था वह होती है जब कवि सांस्कृतिक संवेदनाओं की अनुगूँज की पुकार को भाषा में बाँधने की ओर प्रवृत्त होता है। तीसरी अवस्था...अवग्रहणावस्था है।" (रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, शैली विज्ञान और आलोचना की नई

भूमिका, आगरा, केंद्रीय हिंदी संस्थान, द्वितीय संशोधित संस्करण, १९८१, पृष्ठ-२८)

मेरी दृष्टि में केदार जी की इस कविता का 'अनागत' स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् वह प्रतीक्षित सुफल वह सुपरिणाम है वह 'रामराज्य' या वह 'सुराज' है, जो आजादी के वर्षों बीत जाने के बाद भी इस देश को अब तक नसीब नहीं हुआ। स्वतंत्रता तो आगत हुई पर उसका परिणाम 'रामराज्य' या 'सुराज', अनागत ही रहा। केदार जी एक ऐसे कवि हैं, जिनकी कविता में बार-बार स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के अभावों का जिक्र होता है। उनकी 'एक पारिवारिक प्रश्न' कविता भी स्वतंत्रता के अभावात्मक परिणाम को ही अपना नाभिकेन्द्र (Nucleus) बनाती है। इस कविता का कथ्यकेन्द्र भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आने वाले 'सुराज' के अनागत रह जाने का है, आजादी के बाद जिस वक्त सुखद परिणाम की प्रत्याशा थी, उस अनागत के रह जाने का है। उसके आने का तो कभी कोई क्रम बना ही नहीं। कवि कहता है कि स्वतंत्रता का जो प्रत्याशित परिणाम उसके तत्काल बाद से लेकर अब तक के पूरे परवर्ती काल तक में अनागत रहा, उसका कोई आम आदमी क्या करें? पर वह हमारे मन-मस्तिष्क में निरंतर बसा-बना रहा है, अमूर्त रूप में विद्यमान रहा है। वह हमारा प्राप्य नहीं बन पाया है। फिर भी वह प्रायः सड़क पर चलते हुए अचानक ही बिना सोचे, बिना ध्यान केंद्रित किए ही, बिना उसके बाधक-रोधक प्रत्याशित परिणामों को जाने हुए ही वह हमें अपनी झलक दिखा जाता है। उसकी छोह (स्पर्श) हमें लग जाती है। वह दृश्य होता और चला जाता है। यह आम आदमी और कवि-कलाकार बुद्धिजीवियों की बेबसी की अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसकी प्राप्त्याशा लगातार बनी रही है। यह केदार जी की इस कविता के लिखे जाने के समय तक को कौन कहे, आज तक, इकहत्तर वर्ष के बाद भी अनागत ही है। सरकारी किताबों में उसे लाने की ऐसी-ऐसी योजनाएँ लिखी गई हैं, जो कभी उस अनागत को मूर्त कर आगत नहीं बना पाई। प्रधानमंत्री, राजनेता और उनके अर्थशास्त्री

सभी किताबों में योजनाओं का अमूर्त मानचित्रीकरण करते रहें। इसीलिए वह अनागत किताबों में सिर्फ शब्दों में चक्कर लगाता है। यथार्थ की सार्थकता उसे नहीं मिल पाती। उसका मूर्तीकरण नहीं हो पाता है। वह अब तक अनवतरित है। वह आम नागरिक की दुख की रातों की वीरान गलियों के पार जाकर अपना स्वर गुनगुनाता है। कभी गाता है कि मैं आ रहा हूँ और कभी गाता है कि मुझे आने नहीं दिया जा रहा है। वह हमारे दुख के हर मोड़ को पहचानने की कोशिश करता है और उसकी झाँकी लेकर निकल जाता है, क्योंकि उसे इस देश में अब तक उतरने नहीं दिया जा रहा है। फिर भी वह हमारे दुख को पहचानता है। नेता और शासन-प्रमुख इसे नहीं पहचान पाते। जब दिन ढलता होता है, वह वहाँ चला जाता है, जहाँ उसके आने पर कोई बंदिश नहीं है, क्योंकि वे घर घर नहीं रहे, घरवालों के छोड़ जाने के कारण या उनके मर जाने के कारण खंडहर बन चुके हैं। मानों कह रहा हो, यदि मैं आ चुका होता, तो ये घर खंडहर नहीं बन पाते। वह वहाँ आ जाता है। अवतरित होता, आम नागरिक अनागत बाँसुरी पर तान छेड़ता है। स्वतंत्रता के बाद के अपने प्रत्याशित परिणामी स्वरूप को व्याख्यायित करता है। वह अपने नहीं आ पाने की असमर्थता की करुण तान अलापता है। वह नागरिकों की ज्ञान-रूपी खिड़कियों के बंद शीशे को तोड़ देता है, ताकि उनके ज्ञान की खिड़कियाँ खुली रहें और वे उन्हें अपने देश और जीवन में लाने-उतारने के लिए हर संभव प्रयत्न कर सकें। वह अनागत, वह अमूर्त 'रामराज्य' या 'सुराज' के विशेषीकरण के विरुद्ध है। आम नागरिकों के दरवाजे पर उनके नाम-पद नहीं लिखे होते। इसलिए वह नाम और पद से सम्मानित व्यक्तियों के दरवाजों पर लगी नाम-पट्टियों से उनके नामों को मिटा देता है। वह विशेषीकरण के माध्यम से सुखोपभोग करने वालों का सामान्यीकरण कर देता है, क्योंकि ये स्वतंत्रता के बाद समान ढंग से मिलने वाली सभी नागरिकों की खुशहाल जिंदगी के अवरोधक हैं। इस विशेषीकरण को मिटाकर ही 'सुराज' संभव हो सकता है। कवि को ऐसी प्रतीति होती है कि अनागत ऐसा करता है।

बिस्तरों के बिछौनों से लेकर ओढ़ने तक और चैन से नींद लेने तक आम नागरिकों के जीवन में सुख तभी आ सकता है, जब बड़े-बड़े नामवालों के बिस्तर मखमली या आरामदेह न हों। इसीलिए बड़े नाम वालों के बिस्तरों को मसलता और उन पर अपनी छाप छोड़ जाता है।

कवि कहता है कि हम इस अनागत का क्या करें, जो न आ पाता है और न जा पाता है। यहाँ उसका आना और जाना उसके मूर्तीकरण और अमूर्तीकरण से संबंधित है। उसका आना मूर्तीकरण (concreteness) से और न जा पाना कवि-कलाकारों और आम नागरिकों की मानसिकता से संबंधित है। उनके ध्यान और उनकी चेतना और उसकी प्रतीक्षा से संबंधित है, जो पूरी तरह न उनके मस्तिष्क से निकल पाता है, न जा पाता है और न ही वह स्वतंत्र भारत में मूर्त रूप में अपनी जगह बना पाता है। अपने देश में उसे अवतरित करने का कोई ठोस उपाय विधि-पालिका और कार्यपालिका नहीं कर पाती है। फलतः वह मूर्त, साकार नहीं हो पाता है और दूसरी ओर न ही वह बराबर के लिए हमारे मन-मस्तिष्क से सदा के लिए चला ही जा पाता है। वस्तुतः यह कविता कवि-कलाकार और आम नागरिकों के मन-मस्तिष्क के उस द्वंद्व को भी निरूपित करती है, जहाँ वह उसकी मानसिकता में तो है, पर उसके हेतु प्रयत्न और कर्म का वहाँ अभाव है। जहाँ भी वह जाता है आजकल कहीं भी उससे ठहरा नहीं जाता, क्योंकि हर कहीं नेताओं के यहाँ, मंत्रियों के यहाँ, व्यापारियों के यहाँ, कार्यालयों में किरानियों अफसरों के यहाँ, इंजीनियरों के यहाँ, अस्पतालों में, कचहरियों में, शैक्षिक संस्थाओं में हर पल, हर समय उस अनागत के विरुद्ध षड्यंत्र रचे जाने, उसकी हत्या तक किए जाने का उसे खटका लगा रहता है, आशंका बनी रहती है। जहाँ कहीं भी वह जाता है वहाँ उसकी मूर्त अभावात्मकता में वह कब, कहाँ, किस रूप में उसकी मानसिकता में वहाँ दीख जाएगा, हेतु-हेतु मद्भूत (यदि ऐसा होता तो) में वह अपनी झलक दिखा जाएगा। जो कोई भी नया व्यक्ति पहले-पहल अपने क्षेत्र में, अपने पद पर 'सुराज' या

‘रामराज्य’ की संकल्पना को साकार करने का वायदा करता आता और सुशोभित होता है और उसी ‘अनागत’ की तरह अपनी प्रतीति भी करा जाता है। भले ही बाद में वह प्रतीति विफलीकृत हो जाती है।

‘अनागत’ कविता अज्ञेय द्वारा संपादित ‘तीसरा सप्तक’ में पहली बार प्रकाशित हुई थी। ‘तीसरा सप्तक’ का प्रकाशन-काल १९५९ ई. है। इससे पहले यह अनुमान किया जा सकता है कि यह कविता १९५७-५८ की लिखी गई होगी। तब तक स्वतंत्रता-प्राप्ति के दस-ग्यारह वर्ष बीत चुके थे और स्वतंत्रता के मिलने से आम नागरिकों की जिस प्रत्याशा की प्रतिपूर्ति होनी थी, वह नहीं हो पायी थी। गाँधी ने जिसे Indian Home Rules में ‘सुराज’ कहा था, जिसका स्वरूप हिंदी में अनूदित उनकी पुस्तक ‘हिंद स्वराज’ में निरूपित है। आजादी के इस प्रत्याशित सुपरिणाम को ‘रामराज्य’ के प्रादर्श शब्द या Motto से निरूपित किया गया था। पर आजादी के बारह वर्षों बाद तक यह कहीं भी मूर्त रूप में स्वरूपित-व्यवस्थित और आचरित नहीं हो पाया और आज २०१९ तक भी इसकी वही स्थिति बनी हुई है। नामवर सिंह ने इस अनागत को अमूर्त भविष्य के रूप में देखा है। उन्होंने बाह्य संरचना के स्तर पर इस कविता के कथ्य में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं पाया है। उन्हें तो इसमें क्रमहीनता और अन्विति का अभाव ही दिखता है। वह बिम्ब के ऊपरी स्तर से गहरे नहीं उतर पाते। पर यह ‘अनागत’ वह ‘सुराज’ या ‘स्वराज’ और ‘रामराज्य’ है, जो अब तक नहीं आ पाया है। वायदे उसके, घोषणाएँ उसकी, प्रतिश्रुति उसकी, प्रतिबद्धता उसकी, पर आजादी के बाद जो राज्य हमें मिला वह ‘रावण-राज्य’ ही सिद्ध हुआ, ‘रामराज्य’ नहीं। वह ‘अनागत’ यूटोपिया (Utopia), केवल आदर्श स्वप्न बनकर रह गया। पर नागरिकों को जितना यह स्वप्न दिखाया गया था, वह नागरिकों के मन में, उसके अचेतन में अब भी प्रत्याशित साकारिता में बसा हुआ है। जो बार-बार उभरता और अपनी झाँकी दिखाता रहता है। यह स्वप्न कब, कहाँ और कैसे उभर आएगा, यह कहा नहीं जा सकता।

‘रामराज्य’ की प्रतीक्षा कर रहे आम नागरिकों को आरंभ में हर नया शासनप्रमुख, हर राजनीतिक सत्ताधारी दल-प्रमुख उसी रामराज्य को साकार करने आने वाले की तरह, उसे मूर्त रूप देने वाले की तरह लगता है। सरकार की नई-नई घोषणाएँ उसे ऐसे ही प्रतीत होती हैं। पर उसकी ऐसी नई घोषणा, ऐसा नया वायदा कभी पूरा नहीं होता और यथार्थ में रामराज्य-रूपी ‘अनागत’ कभी साकार और मूर्त नहीं हो पाता है। यह अनागत रामराज्य हमारी गरीबी और जिंदगी के अँधेरे में दूर से ही चीखता है, क्योंकि उसे निकट आने नहीं दिया जाता। उसके रूप, रस और गंध को दर्श, आस्वाद्य और घ्रातव्य बनने नहीं दिया जाता। आम नागरिक के जीवन में काँटे-ही-काँटे मिलते हैं, फूल नहीं खिल पाता। हमारे मस्तिष्क के आईनों में वह पलेक के लिए अपनी झलक दिखाता है और मिट जाता है। कुछ सरकारी घोषणाओं और उसके आरंभिक क्रियान्वयन की तैयारी से ऐसा लगता है कि अब रामराज्य मूर्त हो उठेगा और हमारे हाथ में आता हुआ उसका हाथ हमारी पकड़ में नहीं आता, बिछल जाता है और उसकी छूँअन हमारी सोई हुई धमनियों को उसमें बहने वाले रुके लहू को रौंद कर चला जाता है, मानों वह हमें रामराज्य की प्राप्ति के लिए उत्तेजित और जागृत करता है। उसे हमारे बीच उतारने वाले पंख सरकारी सुनहले वायदों की परछाइयों में खो जाते हैं और उसके पाँव की गति अवरुद्ध कर दी जाती है। ‘कन्फ्यूजन’ का ऐसा कुहासा रचा जाता है कि उसमें छटपटा कर रह जाता है। आजाद देश की व्यवस्था में उसके जीवन में उतर नहीं पाता।

इस अनागत रामराज्य का स्वप्न विचित्र है। यह जो हमारे मानस-पटल पर साकार हो पड़ा है। वह हमारी मानसिकता से सदा के लिए दूर चला जाने वाला नहीं सिद्ध हो पाता है। अंत में कवि कहता है कि देश की धरती पर उसके उतरने के लिए जो संभावित सीढ़ियाँ थीं और उनसे उसका उतरना संभव नहीं हो सका, फिर भी उस मानसिकता की ओर हम बरबस खिंचते चले जाते हैं। यानी उसको लाने, साकार करने, मूर्त करने की दिशा में

हमारा और आम नागरिकों का अब भी आकर्षण बना हुआ है। यही मानसिकता किसी-न-किसी दिन अपना गंतव्य और प्राप्तव्य प्राप्त करा देगी। हमारे सत्ताधारी और शासक, हमारे राजनेता और प्रशासक इस अनागत रामराज्य को मूर्तिमंत करने से रहे।

इस प्रकार 'अनागत' की गहन संरचना में उतरने के साथ ही न केवल अमूर्त 'अनागत' के संस्कार और स्वरूप का पता चलता है, बल्कि यह भी विदित हो जाता है कि इस अनागत के स्वरूप में इतना गुणात्मक और कर्मनिष्ठ आकर्षण है कि वह आम नागरिकों के मन-मस्तिष्क में अब तक बसा हुआ है और अपने देश में जब कभी यह अनागत साकार होगा, तो उसमें आम नागरिकों की भूमिका ही महत्वपूर्ण होगी। यह है 'अनागत' की अर्थवत्ता, सार्थकता और साभिप्रायता। केदार जी की कविता की यह परासंदेशीय (हाइपोग्रामिक) शक्ति-क्षमता है, जो कविता में आद्यंत सुविन्यस्त है और 'अनागत' की स्वरूपगत पहचान को प्रतिभाजन्य-वाक्यार्थ से निर्दिष्ट कर देती है।

उनकी तीसरी कविता 'विद्रोह' भी अर्थगर्भी गुणात्मकता की दृष्टि से विचारणीय है। यह कविता पहली बार अक्टूबर, २००९ की 'आउटलुक' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 'एक पारिवारिक प्रश्न' में जहाँ अर्थगर्भी गुणात्मकता शब्द-केंद्रित है, वहाँ इस कविता की गुणात्मकता प्रोक्ति-केंद्रित है। कविता का वाचक जब अपने घर में प्रवेश करता है, तो वह वहाँ अजब दृश्य पाता है। कवि के घर के अंदर के सारे उपादान- बिस्तर, कुर्सी, मेज, आलमारी उसमें बंद किताबें, शॉल, टी.वी., फोन, नल से टपकता पानी और दरवाजे- सभी विद्रोह कर उठे हैं। यह विद्रोह भी अजीब किस्म का है। बिस्तर वाचक को अपना इस्तीफा सौंपता है। वह अपने उस मूल रूप से जा मिलना चाहता है, जिससे वह बिस्तर बना था। इसी तरह कुर्सी और मेज दोनों ही संयुक्त रूप में वाचक बनाम गृहस्वामी को सहने से इनकार कर देते हैं। दोनों कहते हैं कि हमें अपने मूल (स्वरूप) की याद आ रही है। हम अपने पेड़ और उसके अंदर के चिकने द्रव से मिलना चाहते हैं, जिसके आप

हत्यारे हैं- "जी, अब बहुत हो चुका/आपको सहते-सहते/हमें बेहद याद आ रहे हैं/हमारे पेड़ और उनके/भीतर का वह चिकना-सा द्रव/जिसकी हत्या कर दी है आपने।" यहाँ 'आपने' जैसे एकवचन संबोधित के लिए न होकर पूरी मनुष्य जाति को संबोधित है और यह विद्रोही उलाहना केवल पेड़ का नहीं है, बल्कि पूरी प्रकृति का है, जिसको मनुष्य अपनी महत्वाकांक्षा और सभ्यता के विकास के नाम पर लगातार क्षत-विक्षत करता जा रहा है। केदार जी को प्रायः प्रकृति का कवि भी माना जाता रहा है। हिंदी में प्रकृति के कई विशिष्ट कवि हैं। पर इस कोण से प्रकृति को देखने, समझने और निरूपित करने की दृष्टि केदार जी की नितांत मौलिक दृष्टि है।

आलमारी में बंद किताबें विद्रोह के स्वर में कहती हैं- "खोल दो, हमें खोल दो/हम जाना चाहती हैं/अपने बाँस के जंगल/और मिलना चाहती हैं/अपने बिच्छूओं के डंक/और साँपों के चुंबन से।" किताब जिन कागजों से बनती हैं, वे कागज बाँस से बनते हैं। इन किताबों के कागज में बाँस से मिलने की व्याकुल तड़प है। इतना ही नहीं, वहाँ के जंगलों में बिच्छूओं के डंक और साँपों के चुंबन से स्पर्शित होना चाहती हैं। अपनी मूल प्रकृति में जाकर ज़हरीले जीवों से मिलना भी इन्हें खतरनाक नहीं लगता। व्यंजना यह है कि मूल प्रकृति के ये बिच्छू और साँप भी उतने जहरीले नहीं हैं, जितना जहरीला आज मनुष्य हो गया है, जो सभ्यता के नशे में अपने मूल से काफी दूर आ पड़ा है। आज उन्हें न अपने मूल की कभी सुध आती है और न कभी उस तक लौटने की चिंता ही उसे उन्नथित करती है। बिस्तर पर पड़ी वाचक की शाल भी उससे बहुत नाराज है। इसे उसने कुछ दिनों पहले ही कुल्लु में खरीदा था। वह अपनी नाराजगी जाहिर करती बोलती है- "साहब आप तो बड़े साहब निकले/मेरा भेंडा मुझे कब से पुकार रहा है/और आप हैं कि अपनी देह की कैद में/लपेटे हुए हैं मुझे।" यहाँ शाल जिसके शरीर के रोएँ से, ऊन से निर्मित हुई थी, वह इस टुंभे भेंडे की पुकार सुन रही है। यह पुकार भी मूल की पुकार है। पर मनुष्य को अपने

मूल की पुकार कभी नहीं सुनाई पड़ती। इसीलिए वह कभी प्रकृति की पुकार नहीं सुन पाता है, उलटे वह अपनी भौतिक सुख-समृद्धि के लिए सारी प्रकृति को नियंत्रित करता जा रहा है। पर्यावरण को नष्ट कर रहा है।

उस घर में टी.वी. और फोन के द्वारा भी जोर-जोर से की जा रही चीख-पुकार सुनाई पड़ रही है। पर उनकी भाषा वाचक को समझ नहीं आती। वस्तुतः ये वाचक के नियंत्रण से मुक्त हो चुके हैं और विज्ञान के मशीनी नियंत्रण में अपने-अपने माध्यम के दुरुपयोग के विरोध में जोर-जोर से बोल रहे हैं। कहना न होगा कि यह विद्रोह अपने-अपने माध्यमों से। पश्चिमी 'पिशाची सभ्यता' का प्रचार-प्रसार किए जाने से और आम जन को उसके मूल से विच्छिन्न करने के प्रति व्यक्त हुआ है। वाचक को नल से टपकते पानी की पुकार भी सुनाई पड़ती है- “अब तो हद हो गई/आप अगर सुन सकें तो सुन लीजिए/इन बूँदों की आवाज/कि यानी हम सभी आपके सारे-के-सारे कैदी/आदमी की जेल से मुक्त होना चाहते हैं।” मुक्ति की यह इच्छा केवल नल के पानी की नहीं, बल्कि प्रकृति के पाँच तत्वों में जल नामक तत्व की है, जिसे मनुष्य ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी की जरिए तरह-तरह से बाँध रखा है। यहाँ नल की टपकती बूँद की जो तड़प है और उसका आग्रह है, वह केवल अपने लिए नहीं है, बल्कि आदमी के द्वारा प्रकृति के बनाए गए सारे कैदियों के लिए है। बिस्तर कुर्सी और मेज तथा बाँस- ये सभी प्रकृति के क्षिति तत्व से जुड़े हैं। इसलिए मिट्टी पर, स्थूल तत्व पर जो मनुष्य का नियंत्रण है, उससे वह मुक्ति चाहते हैं। दुंबा भेड़ के रूप में अपने से निम्न जीवधारियों को भी नियंत्रण से मुक्त करने का आग्रह है। कुल मिलाकर इस कविता में विद्रोह को जिन मूलभूत तत्वों से निर्मित पदार्थों के द्वारा दर्शाया गया है, वे दो प्रकृति-तत्व ही नहीं हैं, बल्कि टी.वी. और टेलीफोन में पवन-तत्व और गगन-तत्व का विद्रोह भी सम्मिलित है। साथ ही अग्नि-तत्व का विद्रोह दरवाजे की कड़क आवाज में उसकी उष्मा में उभरता है- “आप जा कहाँ रहे हैं/मेरा दरवाजा कड़का/जब मैं बाहर

निकल रहा था।” इस कविता का प्रकर्ष उसके अंतिम, बंध में उभरता है, जब वाचक विद्रोह के उन स्वरो को सुनते-सुनते घबरा कर बाहर निकलना चाहता है। यहाँ ‘आप जा कहाँ रहे हैं?’ के कई अर्थ हैं। एक अर्थ है कि अब आप कौन-सा कुचक्र रचने जा रहे हैं? व्यंजित यह भी है कि आप जाइए, मत रुकिए। पर उससे पहले हमारा इस्तीफा ले लीजिए, अपना नियंत्रण हटा लीजिए और हमें अपनी कैद से मुक्त कर दीजिए। प्रतीयमान अर्थ यह भी है कि सभ्यता के विकास में, उस विकास के व्यामोह में आप जिस गंतव्य तक जा रहे हैं, क्या आपको उसकी परिणति मालूम है? क्या हमारे विद्रोह को देखकर आप उस परिणति का अनुमान कर सकते हैं? व्यंजना है कि प्रकृति के ऊपर जितना अधिक नियंत्रण मनुष्य ने किया है, उसकी प्रतिक्रिया में प्रकृति का विद्रोह कभी सुनामी बनकर आता है, कभी भूकंप-भूचाल बनकर और कभी धरती के सीने में लम्बी-लम्बी दरारों का अंतराल पैदा कर। ‘कड़का’ शब्द यहाँ केवल प्रकृति की डाँट-फटकार को व्यंजित नहीं करता, बल्कि यह चेतनावनी भी देता है। यह कविता यह सुझाती है कि इंसान भी अपने भीतरी मूल से जुड़ने की तड़प पैदा करे। इसलिए दरवाजा उसे बाहर जाने से रोकता है। बाहर निकलने का अर्थ है मूल की ओर मुड़ने की आवाज सुनने से परे हो जाना। इसलिए दरवाजा आदमी को कड़क कर रोकता है। कवि विद्रोह के इस शर्माँ को ‘अजब दृश्य’ कहता है। यहाँ मूल से प्रकृति के विच्छिन्न होने का निरूपण है और अपने-अपने उस मूल से मिलने के लिए विद्रोह भी। वस्तुतः अपने मूल से आदमी का अलग होता चले जाना ही सबसे बड़ा अजब दृश्य है। भारत का आदमी अपनी परंपरा, संस्कृति, इतिहास और यहाँ तक कि अपनी मूल पीढ़ियों तक से अलग-थलग और दूर जा पड़ा है।

केदार जी की यह कविता एक और गहरी अर्थवत्ता अपने ‘स्पेस’ के रूपांतरण से व्यक्त कर देती है। कविता में निरूपित ‘कमरा’ कमरा न रहकर पूरा देश बन जाता है। इसके सारे उपादान व्यवस्था-तंत्र के भागीदार बन जाते हैं। उनका विद्रोह इस देश के शासन- तंत्र में सबसे ऊपर बैठे

हुए आदमी के प्रति मुखर होता है। कविता की फैंटेसी यथार्थ बनने लगती है और उपादान अपना-अपना प्रतीकार्य खेलने लगते हैं। कुर्सी, मेज, आलमारी, शाल- ये चारों उद्योगपतियों उद्यमियों को प्रतीकित करते हैं। किताबें अधीनस्थ खरीदे गए बुद्धिजीवियों, ज्ञानियों को व्यंजित करती हैं। नल उन बिचौलियों की प्रतीकित करता है, जो इनकी प्यास लगातार बुझाता रहा है। खतरे के समय में भी इन्हें बचाकर जीवन देता रहा है। फोन और टी.वी. का विरोध, भूमंडलीकरण के विरोध में इन माध्यमों को 'मिसयूज' करने का विरोध है, जो भारतीय संस्कृति को चाटते-मिटाने जा रहे हैं। दरवाजा जनसमूह को प्रतीकित करता है जिसके मार्ग से यह आते और स्थापित होते हैं। मूल से मिलना इसके द्वारा गृहीत और चालू पाश्चात्य सभ्यता का विरोध करते हुए अपनी भारतीय सभ्यता की ओर लौटने का संकल्प है। केदार जी की कविता में कुशासन-तंत्र के सर्वोच्च पदों पर बैठे आदमी के विरोध में यह कविता विद्रोह करती है।

इस प्रकार यह कविता व्यापक मानवीय हित और देश के हित में अपने मूल से जुड़ने की साभिप्रायता बन जाती है। यहाँ आकर यह सामान्य यथार्थ से कहीं अधिक बड़े यथार्थ को उजागर करने लगती है। यहाँ विद्रोह जनवादी विद्रोह के रूप में नहीं उभरता, बल्कि गांधीवादी दबाव में उभरता है। कहना होगा कि यह कविता 'हिंद स्वराज' में निरूपित अपनी मूल सभ्यता के प्रति लौटने के आग्रह को वाणी देती है। प्रायः कविताएँ समस्याएँ उठाती रही हैं। पर निदान और समाधान नहीं दे पाती रही हैं। पर केदार जी की यह कविता व्यंजित रूप में समाधान भी प्रस्तुत करती है। 'विद्रोह' के इस समाधान को कवि ने अपने ढंग से मूर्त किया है। यह विद्रोह प्रभुत्व की छाया में रह रहे अधीनस्थों का विद्रोह है। यह 'मिसयूज' किए जा रहे तकनीकी उपकरणों का विद्रोह है। यह एकमत जनसमूह का विद्रोह है। यहाँ जो मानसिकता कविता में साकार और जीवंत हो उठी है वह मानसिकता पूरे देश में प्रतिबिंबित और सक्रिय होनी चाहिए।

केदार जी की कविता के अर्थ-गह्वरों को खोलने की दिशा में अब तक सार्थक प्रयास नहीं हो पाया है। यह तभी

संभव हो सकता है, जब प्रतिभा-सम्पन्न पाठक और आलोचक उन्हें केवल अभिधा का कवि नहीं माने और उनकी कविताओं की गहन संरचना से तादात्म्य कर सकें। केदार जी अपनी कविता के इसी गहन संरचनात्मक प्रदेय के कारण अमर रहेंगे।

वर्षों पहले मैंने केदार जी की दो आलोचना-पुस्तकों के साथ-साथ उनके गद्य-लेखन को भी ध्यानपूर्वक पढ़ा था। चाहे वह 'कल्पना और छायावाद' पुस्तक रही हो या 'छायावादी काव्य में बिंब-विधान' ग्रंथ रहा हो, या कविकर्म करने के साथ-साथ लिखा गया उनका चिंतनात्मक गद्य हो, उनमें हर कहीं तात्त्विकता, तथ्यपरकता और तत्व की मौलिक पहचानपरक चिंता और चेष्टा साकार होती रही है।

तब केदार जी जे.एन.यू. में हिंदी में रीडर बनकर पंडरौना से आ चुके थे, जब हमारे गुरुनानक देव विश्वविद्यालय में किसी संदर्भ में उनका आना हुआ था। उनके साथ-साथ उन दिनों गोरखपुर से विश्वनाथप्रसाद तिवारी और शिमला से विजय मोहन सिंह भी अमृतसर आए हुए थे। इन तीनों से ही मैंने अपने घर आने और भोजन करने का आग्रह किया था। संभवतः यह १९७८ की बात है। ये तीनों ही मेरे घर आए थे। हम परस्पर साहित्य-विमर्श करते रहे थे और हमारी धर्मपत्नी इंदु शीतांशु जी ने उन्हें सादर भोजन कराया था। जब विजय मोहन सिंह से वर्षों बाद इक्कीसवीं शती के दूसरे दशक में वर्धा के अतिथि-भवन में मेरी मुलाकात हुई तब उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को बताया कि उन्होंने मेरे घर पर वर्षों पूर्व भोजन किया था और मेरी धर्मपत्नी ने उन्हें आग्रहपूर्वक खिलाया था। वहाँ डॉ. इंदु शीतांशु मेरे साथ थी। इसी तरह जब व्यास सम्मान की निर्णायक-समिति की बैठक में ५ दिसम्बर १९६७ को हम सम्मिलित हुए थे तब मेरी धर्मपत्नी को सामने देखकर विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने भी उनसे यह कहा था कि आपको याद है कि आपने बहुत ही सद्भावपूर्वक मुझे अपने घर पर जो खाना खिलाया था। मुझे वह तो अब तक स्मरण है। पर केदार जी से मैं जितनी बार मिला अकेला ही मिला। उन्हें भी यह स्मरण

रहा और वह यह सांकेतिक याद दिलाते रहे कि कभी उन्होंने मेरे घर भोजन किया था, पर वह मेरी धर्मपत्नी को यह नहीं बता सके। उस पहली पारस्परिक भेंट में हमारी चर्चा 'राम की शक्तिपूजा' पर हुई थी, जिसके प्रारंभिक अंश का वाचन भी मैंने उनके सामने किया था तथा उसकी साभिप्रायता बतायी थी। वह शक्तिपूजा के मेरे उस काव्यपाठ से प्रभावित हुए थे। संदर्भ चलने पर वह जे.एन.यू. के अपने विद्यार्थियों से 'राम की शक्तिपूजा' पर उसकी औच्चारणिक अभिव्यंजना और अर्थान्वेषिता के प्रसंग में मेरा उल्लेख किया करते थे, जिसे उनके आत्मीय और निकटतम शिष्य डॉ. अरुण कुमार (राँची विश्वविद्यालय, राँची) ने मुझे एकाधिक बार बताया था।

केदार जी प्रोफेसर हो गए और मैं भी प्रोफेसर हुआ तब हमारी दूसरी मुलाकात दिल्ली के हरियाणा भवन में हुई, जहाँ कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की 'राम मनोहर लोहिया चैयर' के लिए प्रोफेसर की नियुक्ति होनी थी और हम दोनों विशेषज्ञ के रूप में उस चयन-समिति में सम्मिलित हुए थे। वहाँ हमने एकमत होकर व्यक्ति-परिचय के आधार पर प्रो. रमाकांत पाठक के समाजवादी रुझान और समाज-दार्शनिक चिंतन और लेखन तथा लोहिया जी पर लिखे गए उनके खंडकाव्य से प्रभावित होकर उनकी अनुपस्थिति में उनका चयन किया था।

१९९१ का वर्ष था। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली के द्वारा विदेश में भेजे जाने वाले विजिटिंग प्रोफेसर के लिए अभ्यर्थी हिंदी प्रोफेसरों में से योग्य व्यक्तियों का चयन करने हेतु 'आजाद भवन', (इंद्रप्रस्थ एस्टेट, नयी दिल्ली) में साक्षात्कार लिए जा रहे थे। मुझे भी साक्षात्कार के लिए बुलाया गया था। सबसे पहले मेरी ही पारी आई। उस समय गिरिजा व्यास परिषद की अध्यक्ष थीं जो उस चयन-समिति की अध्यक्षता कर रही थीं। विशेषज्ञों में प्रोफेसर हरे कृष्ण अवस्थी, प्रोफेसर नामवर सिंह, प्रोफेसर केदारनाथ सिंह और राष्ट्रपति के द्वारा नामित सदस्य बिहार के साहित्यकार स्व. कामता प्रसाद सिंह के सुपुत्र हिंदी साहित्य-प्रेमी श्री शंकर दयाल सिंह

चयन-समिति में बैठे थे। मुझसे परिचयात्मक प्रश्न अध्यक्ष ने किए। शेष प्रश्न प्रोफेसर अवस्थी और केदारनाथ सिंह जी ने किए। नामवर जी ने भी एक-दो सामान्य प्रश्न किए थे। प्रश्न अनेक किये गए थे, पर तब केदार जी ने मुझसे पूछा था कि आप विदेश जाकर वहाँ के विश्वविद्यालय में शैलीविज्ञान और साहित्य पढ़ाएँगे? और मैंने उत्तर दिया था- "पढ़ाना तो मुझे वही होगा, जो उनके पाठ्यक्रम में होगा। पर मैं यह समझता हूँ कि यदि मुझे पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत पढ़ाने पड़े और उसमें शैलीविज्ञान भी हुआ, तो मैं उन्हें तुलनात्मक संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र भी पढ़ाना चाहूँगा। इसके अतिरिक्त वहाँ के पाठ्यक्रम में मध्यकालीन और आधुनिक हिंदी साहित्य के रचनाकारों और उनकी कृतियों को पढ़ाने का अवसर मिलेगा और जो भी मिलेगा, मैं उन्हें भारतीय परंपरा और संस्कृति, दर्शन और इतिहास से संदर्भित करता हुआ पढ़ाऊँगा। साथ ही उन्हें कृतियों की गहराई में जाकर उसकी साभिप्रायता से साक्षात्कार करना सिखाऊँगा। उन्हें साहित्य का सच्चा भावन करना सिखाऊँगा। केदार जी सब शांत भाव से सुनते रहे। बाद में मुझे ICCR की ओर से तीन वर्षों के लिए त्रिनिदाद जाने के लिए नियुक्ति-पत्र मिला। तब पता चला कि प्रोफेसर अवस्थी और केदार जी दोनों ने मुझे साक्षात्कार में सत्तर-सत्तर अंक दिए थे और मैं उस चयनतालिका में शीर्ष पर था।

इसके बाद २०१३ से लगातार तीन वर्षों तक मैं बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय (पटना शिविर) की चयन-समिति में विशेषज्ञ था। वहाँ मेरे साथ-साथ केदार जी भी विशेषज्ञ थे। तब लगातार मेरा उनसे संपर्क और सान्निध्य बना रहा। मैं वहाँ की चयन-समिति में राष्ट्रपति के द्वारा भाषा-संकाय के सभी विषयों के लिए नामित सदस्य था और केदार जी हिंदी के लिए विशेषज्ञ थे। जब-जब हिंदी की चयन-समिति की बैठक हुई तब-तब हम दोनों साथ-साथ रहे। उन चयन समितियों में केदार जी कम प्रश्न करते थे। आधिकाधिक प्रश्न मैं ही किया करता था। पर हमारा मूल्यांकन समतुल्य होता था और हम दोनों अपना समवेत निर्णय दिया करते थे।

चयन-समिति से बाहर केदार जी के साथ मेरा जो समय गुजरता था, उसमें वह मुझे प्रायः हजारों प्रसाद द्विवेदी के ज्ञानात्मक विमर्श के संस्मरण सुनाते रहते थे तथा उनके कुछ विशिष्ट शब्द-प्रयोग की व्युत्पत्ति से लेकर साभिप्रायता तक की द्विवेदी जी द्वारा की गयी व्याख्या बताते थे। केदार जी की पहली ससुराल मेरे गाँव से नजदीक थी। इस संदर्भ में भी मेरी उनसे आत्मीय बातचीत हुआ करती थी।

वह अपने बाह्य व्यक्तित्व में सदैव सौम्य और शांत रहते थे, पर साहित्यिक विमर्श में वह गंभीर बातचीत किया करते थे। उनकी कविताओं की मैंने प्रगुणात्मकता और साभिप्रायता का रेखांकन और विवेचन किया था। उससे वह बहुत प्रभावित हुए थे। मैंने उन्हें बताया था कि कैसे हमारे विश्वविद्यालय में डॉ. मेघ ने डॉ. हुकूमचंद राजपाल के निर्देशन में अरुणा शर्मा नामक एक एम.फिल. शोध-छात्रा को केदार जी पर शोध-कार्य करने का विषय दे दिया था। पर जब-जब वह प्रबुद्ध छात्रा राजपाल जी से केदार जी की कविता को समझने के लिए गई, तब-तब राजपाल जी उसे कुछ बता नहीं पाए। अंत में वह भागी-भागी मेरे पास आती थी। मैंने केदार जी की कुछ कविताएँ उसे समझाई भी थीं, पर मेरे अपने कई शोधार्थी थे, जिनमें मेरा अधिक समय जाता था। अतः मैंने उसे परमानंद श्रीवास्तव से संपर्क करने का सुझाव दिया। परमानंद जी ने भी पत्राचार द्वारा, जहाँ तक संभव हो पाया, उसकी सहायता की। उपाधि तो उसे मिल गई, पर उसका प्रबंध-लेखन स्तरीय नहीं हो पाया। यहाँ इस प्रसंग का उल्लेख मैंने इसलिए किया है, क्योंकि मैं समझता हूँ कि जनवादी विचारधारा के रचनाकारों में, विशेष रूप से कवियों में दो कवि हैं, जिनको समझना जनवादियों के लिए भी दुष्कर रहा है। इनमें एक कवि मुक्तिबोध हैं और दूसरे कवि केदारनाथ सिंह। ये दोनों ही कवि अभिधा के कवि नहीं हैं, जबकि जनवादी कविताएँ मूलतः अभिधेयार्थी ही रही हैं। नागार्जुन जैसे संवेदनशील और शीर्ष कवि अपनी जनवादी कविता लिखते हुए अभिधा के कवि हो जाते हैं। पर मुक्तिबोध जिस फैंटेसी की रचना करते हैं उस फैंटेसी को डी-कोड करने में

नामवर सिंह भी विफल हो जाते हैं और नंदकिशोर नवल तो बिना फैंटेसी को खोले और समझे उसके ऊपर विचारधारात्मक अर्थ चस्पाँ कर देते हैं, जिसकी संगति कविता से नहीं बैठती। दूसरी ओर केदारनाथ सिंह कभी अपनी कविता में ऐसा नया प्रतीक-विधान रचते हैं और कभी ऐसी नई व्यंजनात्मक अर्थगर्भिता शिल्पित करते हैं कि पाठक और आलोचक अभिव्यंजनात्मक स्तर पर ठहरा ही रह जाता है और उसी स्तर पर केदार जी की कविता की महानता को विवेचन करने लग जाता है। पर केदार जी अभिधा के कवि नहीं हैं। वह निस्संदेह हमें अपनी अभिधा में भी मोहते हैं, पर हमें टोहते भी हैं और हमारी पहचान-परख भी करते हैं। यानी उनकी कविता यह पहचान-परख करती चलती है कि इससे आगे जाकर उनकी कविता की समझ को कौन खोल पाता है।

२००९ में साहित्य अकादमी, नई दिल्ली में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर पर एक संगोष्ठी आयोजित की गई थी। वहाँ बहुत सारे मित्रों और परिचितों से मिलना-जुलना होता रहा। अंतिम दिन काव्य-गोष्ठी भी थी। उस काव्य-गोष्ठी से पहले दोपहर के लंच की थाल ले-लेकर हम लोग सभागार से बाहर अपनी-अपनी कुर्सी निकाल कर बैठ गए। मेरे बाएँ विजेंद्र नारायण सिंह बैठे थे और दाएँ थोड़ा पीछे हटकर केदार जी बैठे हुए थे। संगोष्ठी में मेरा संबोधन हो चुका था। उस सिलसिले में ही विजेंद्र जी मुझसे बात कर रहे थे। दिनकर के कुरुक्षेत्र की रचना के जिस अज्ञात हेतु को मैंने उस दिन उद्धाटित किया था, उसके विषय में वह मुझसे पूछ रहे थे कि मुझे वह सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई। हम लोग खा भी रहे थे और बातचीत भी कर रहे थे। मेरे उत्तर के बाद विजेंद्र जी ने मुझसे कहा कि आजकल आपके मित्र ने लिखना-पढ़ना बिलकुल ही बंद कर रखा है। एक पल के लिए मैं चौंका। पर तत्क्षण मैंने “उसी व्यंजना में कहा कि मेरे मित्र या आपके मित्र?” इस पर विजेंद्र जी हँस पड़े और मैं भी हँस पड़ा। हम दोनों एक-दूसरे के कथन में निहित व्यंजित कथ्य को समझ गए थे, जातिवाचकता में गोपित व्यक्तिवाचकता को भाँप गए थे। तभी दोनों ओर से जोर की हँसी फूटी थी

और केदार जी ने दाहिनी ओर से अपनी कुर्सी थोड़ी आगे मेरे बराबर खींचकर मुझसे पूछा था कि आप दोनों किस बात पर इतना हँस रहे हैं ? मुझसे शेयर करना चाहोगे ? मैंने विजेंद्र जी की ओर देखकर उनसे कहा- जरूर करना चाहेंगे। असल में हम दोनों के एक सामान्य मित्र हैं। किसी जमाने में वह मध्यकालीन काव्य पर लिखा करते थे और सैद्धांतिक लेखन भी करते थे। पर अब उनकी लेखनी ने विराम ले लिया है, ऐसा विजेन्द्र जी कहते हैं और वह हम दोनों के मित्र भी है और अमित्र भी। पर यह बात अपने मित्र के विषय में कहते हैं और उन्हें मेरा मित्र बताते हैं। मैंने उनके अभिप्रेत को समझकर उनके छोड़े कटाक्ष तीर को उन्हीं की ओर मोड़ दिया था। इसी पर हम लोगों की हँसी फूट पड़ी थी और वह भी हँसने लग गए थे। मेरी यह बात सुनकर केदार जी भी हँस पड़े थे। विजेंद्र जी उठ गए थे। अब हमारी और केदार जी की बात दिनकर की ओर मुड़ गई थी। केदार जी ने मुझे बताया था कि वह दिनकर के गाँव सिमरिया गए थे। वहाँ उन पर एक आयोजन था और उन्हें उन पर बोलना था। फिर केदार जी ने मुझसे यह भी कहा- “सच कहूँ- मैंने दिनकर की कविता अलग से पढ़ी नहीं थी। फिर भी जितना उन्हें जानता हूँ उस आधार पर बोला और लोगों ने मुझे सराहा भी।” तब मैंने उन्हें बताया कि मेरी दृष्टि में दिनकर जैसा भावावेग और अभिधा का सशक्त कवि दूसरा नहीं है। दिनकर अपनी संवेदना, अपनी वक्तृता और अभिव्यंजना में इस दृष्टि से महान कवि हैं। पर वे गहराई के कवि नहीं हैं। इस बिंदु पर केदार जी भी मुझसे सहमत हुए। तभी मैंने घड़ी देखी, तीन बज गए थे। मेरा बड़ा बेटा आने वाला था। उसके साथ पार्श्ववर्ती होटल में जाकर मुझे अपना सामान उठाना था और होटल छोड़ना था। बेटा मुझे वहाँ से स्टेशन ले जाने वाला था, जिससे मैं अपने आरक्षण के अनुरूप गाड़ी लेकर अमृतसर जा सकूँ। विजेंद्र जी लंच के टेबल पर कुछ खाद्य-सामग्री लेने चले गए थे। मैंने केदार जी से विदा ली और अकादमी भवन से बाहर निकल आया।

मुंबई विश्वविद्यालय में प्रोफेसर करुणा शंकर उपाध्याय के निर्देशन में मेरी आलोचनात्मक कृतियों पर वेद प्रकाश दुबे शोध-कार्य कर रहे थे। केदार जी मुंबई गए हुए थे। वेद पत्रकार भी थे और वह वहाँ केदार जी का साक्षात्कार ले रहे थे। उनकी पारस्परिक बातचीत में मेरी चर्चा चली होगी। तभी वेद ने मुझे फोन किया और बताया कि केदार जी हमारे यहाँ मुंबई में एक कार्यक्रम में आए हुए हैं। मैं अपने पाक्षिक पत्र के लिए उनका साक्षात्कार ले रहा हूँ। आपकी चर्चा चली है तो मैंने उनसे कहा कि मैं अभी आपसे उनकी बातचीत करा देता हूँ। और फिर केदार जी के साथ पाँच मिनट तक मेरी बातचीत होती रही। यह फोन पर मेरी उनसे दूसरी बातचीत थी। इससे पहले मेरे दो आलेख उन पर ‘वागर्थ’ और ‘अक्षरा’ में छपे थे और उन्होंने बताया था कि उन आलेखों की मेरे द्वारा भेजी गई छायाप्रतियाँ उन्हें मिल नहीं पा रही हैं। यदि मेरे पास उन पत्रिकाओं की दूसरी प्रतियाँ हों तो मैं उन्हें भेज दूँ अथवा मैं अपने आलेखों की छायाप्रति ही उन्हें भेज दूँ। तब मैंने ‘वागर्थ’ और ‘अक्षरा’ की अपने पास पड़ी एक-एक अतिरिक्त प्रति उनको भेज दी थी। प्रति मिल जाने पर उन्होंने पुनः फोन पर आभार प्रकट किया था और कहा था कि जब आपने मुझे अपना वह आलेख भेजा था, उन्हीं दिनों मेरी माँ की मृत्यु हुई थी। मैंने आपका भेजा आलेख देखा और पढ़ा। फिर उसे मैंने कहाँ रख दिया, उसका ख्याल नहीं रहा। इसीलिए आपसे आग्रह करके इसे दोबारा मँगवाना पड़ा। मैंने उन्हें कहा- “आपको मेरा आलेख याद रहा और इस बहाने आपने मुझे याद किया। इससे मैं अपने को अनुप्रीत अनुभव कर रहा हूँ।” तीसरी बार फोन मैंने ही किया था, जब रात में उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने की घोषणा सुनी थी, और मैंने उन्हें अहले सुबह बधाई दी थी। वह प्रसन्न थे। कोई दो मिनट मैं बात करता रहा कि अचानक फोन कट गया। मैंने यह सोचकर उन्हें दोबारा फोन नहीं लगाया कि आज तो बधाइयों का ताँता लगना शुरू हो चुका होगा। सो मैं दूसरों का समय क्यों नष्ट करता।

केदार जी सौहार्द-भाव निभाने वाले व्यक्ति थे। बच्चन सिंह उनके समधी थे और अपने जनवादी मित्रों से जुड़े

हुए थे। केदार जी के साथ वह साहित्यिक विचार-विमर्श करते रहते थे। उन्होंने मुझे बताया था कि 'हिंदी आलोचना के बीज शब्द' जैसा नाम मेरी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली वाली पुस्तक के लिए केदारनाथ सिंह ने ही सुझाया था। मैं बच्चन जी के साथ प्रायः निराला की कविताओं की अर्थगर्भिता पर बातचीत किया करता था। मेरी निराला-विषयक पुस्तक का पहला संस्करण उन्हीं को समर्पित भी था। इस संदर्भ में उन्होंने एक बार मुझे बताया था कि 'तोड़ती पत्थर' के विषय में केदार जी की अपनी मान्यताएँ हैं। उनका मानना है कि कविताओं के महान होने में उसके पात्र-चयन की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अगर निराला 'वह तोड़ती पत्थर' के लिए मजदूरनी को नहीं चुनकर मजदूर को चुनते, तो कविता का जो प्रभाव और जो कारुणिक भाव-सौंदर्य पाठकों या श्रोताओं पर पड़ता और है वह संभव नहीं हो पाता। बच्चन जी की नातेदारी नामवर सिंह से भी थी। पर केदार जी ने सदैव बच्चन जी को अपनी ओर से ज्ञान की गुणात्मकता दी और उनके ज्ञान और लेखन को सदैव सराहा। दूसरी ओर नामवर सिंह थे, जो बच्चन सिंह की पचहत्तरवीं वर्षगांठ के आयोजन में जब मुख्य वक्ता के रूप में बनारस के उस आयोजन में बोलने गए तब जितना संभव हो सकता था, हर प्रकार की मर्यादा-रेखा को लाँघकर, उन्हीं का अतिथि होकर, उन्होंने बच्चन सिंह के लेखकत्व और आलोचकत्व के घोर विरोध में अपना वक्तव्य दिया। वह वक्तव्य ऐसा मारक और मॉर्बिह वक्तव्य था, जिससे बच्चन सिंह जी को जो भयानक सदमा लगा, जो भावनात्मक आघात पहुँचा और जितना वह आहत हुए, उस स्थिति से वह फिर उबर नहीं पाए और धीरे-धीरे वह मृत्यु की ओर बढ़ते चले गए। यदि इस रूप में देखें तो नामवर जी की तुलना में केदार जी का व्यक्तित्व अधिक मानवीय, अधिक सदाशयी, अधिक सौहार्दपूर्ण और रागात्मक संबंध-भरा व्यक्तित्व था। उनके वक्तव्य और लेखन से जीवनी-

शक्ति मिलती थी। जिजीविषा जागृत होती थी। इस दृष्टि से अपने जनवादी वृत्त की मित्र-मंडली में मधुपायी होकर भी उनका व्यक्तित्व अमृत तत्व प्रदान करने वाला था। नामवर जी की तरह किसी के अमृत-महोत्सव में मधु या सुधा में गरल मिला देने वाला व्यक्तित्व नहीं था। परिवार या नाते-रिश्ते किसी प्रसिद्धि-प्राप्त कवि या आलोचक के जीवन में उतना महत्व नहीं रखते होंगे, जितना महत्व केदार जी इस आत्मीय रागात्मक बंधन को देते थे। मुझे अच्छी तरह स्मरण है, जब कभी वे बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय की चयन-समिति की बैठकों में आते थे, तो कभी पटना से छपरा या कभी कलकत्ता अवश्य जाते थे। यहाँ केदार जी सिर्फ संबंध में बंधे होते थे और संबंधी के रूप में जीते थे। वह किसी प्रोफेसर, किसी रचनाकार, किसी महान कवि के रूप में इन पर कभी आरोपित नहीं होते थे। इसलिए दूसरे पक्ष से भी उन्हें अधिकाधिक स्नेह, अनुराग और समादर प्राप्त होता रहा। इस दृष्टि से भी वह नामवर जी से ऊँचे थे, क्योंकि उनकी तरह इनमें परिवार की उपेक्षा का भाव कभी स्वप्न में भी नहीं आया होगा, बल्कि सपने भी इन निकट संबंधियों की सापेक्षता और सुख की अनुभूति कराने वाले ही आए होंगे।

केदार जी मेरे बहुत निकट नहीं थे और न मैं ही उनके बहुत निकट था। पर हम दोनों एक-दूसरे का सम्मान करते थे। हाँ, उनका लेखन मेरे बहुत निकट रहा है और अब भी है। इसलिए उनके साथ मेरा जितना संबंध था और रहा, मैं सदैव यह कामना करता रहा, हृदय से चाहता रहा कि वह शतायु हों और हिंदी को उनसे सदैव कुछ अभिनव और महत्वपूर्ण काव्य-सुधा रस-बिंदु प्राप्त होता रहे। पर ऐसा हो नहीं पाया और एक दिन अचानक उनके देहावसान का मर्मांतक समाचार सुनने को मिला। मन मानने को तैयार नहीं था। विधाता से चाह कर भी कहाँ और कैसे पूछता- "सुधा में मिला दिया क्यों गरल" ?

संपर्क: 'साईकृपा' ५८, लाल एवेन्यू, डाकघर- छेहर्टा, अमृतसर, पिन-१४३१०५ (पंजाब)
मो. ०९८७८६४७४६८, ईमेल: shitanshu.shashibhushan@yahoo.com

रामचरितमानस में हनुमान श्रीनारायण पाण्डेय

हनुमान जी हमारी धार्मिक आस्था के देवता हैं। योनि, कुलवंशी, आकार प्रकार से न ऐतिहासिक, न ही पौराणिक। किंतु अपने कर्म से उन्होंने हमारे मनोलोक पर राम जैसा साम्राज्य विस्तार कर रखा है। श्री हनुमान और श्रीराम दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। अतएव मानस में रामचरित के साथ हनुमान चरित्र भी है। मानवीय शक्ति, दैवी आस्था और कर्म सौन्दर्य का ऐसा विग्रह दुर्लभ है। शायद इसीलिए वे आज भी इतने पूज्य हैं। औरों की भाषा में मैं उन्हें प्रथम आतंकवादी नहीं कहूँगा, हाँ आप चाहें तो प्रथम सर्जिकल स्ट्राइक की विंग कमांडर जरूर कह सकते हैं। वह कैसे? मानस खुद बतायेगा। यह तो उनके कर्म का ही एक साक्ष्य है।

बन्दनीय देवता से लेकर, अच्छे मंत्री, मेल-मिलाप कराने वाले संयोजक, जासूस, कुशल योद्धा, राजनीतिज्ञ, विश्वसनीय भक्त और बड़े परोपकारी। हनुमान जी किंग मेकर भी थे। सुग्रीव और विभीषण को राजगद्दी भी इन्हीं के बदौलत मिली थी। गोसाई जी ने तो हनुमान चालीसा में साफ लिख दिया है—

तुम उपकार सुग्रीवहिं कीन्हा। राम मिलाय राजपद दीन्हा॥

तुम्हरे मंत्र विभीषण माना। लंकेश्वर भये सब जग जाना॥ (हनुमान चालीसा)

हमें लगता है कि आजकल बहुत से राजनेता इसी लोभ से हनुमान-मंदिर जाते हैं कि हनुमान जी कोई-न-कोई पद जरूर दिला देंगे। एक बात और हो सकती है। हनुमान जी राम दरबार में द्वारपाल हैं। बिना उनको खुश किये कोई काम न होगा। आज के रामभक्त इसे जानते हैं।

राम दुआरे तुम रखवारे। होत न आज्ञा बिनु पैसारे॥ (हनुमान चालीसा)

इसलिए वे हनुमान भक्त हैं। सामान्य जन-जीवन में अनिश्चयता और राजनीतिक जीवन में लोलुपता तथा धन-पतियों में बढ़ोतरी और भय दोनों के कारण आज कल देवी देवताओं में श्रद्धा पहले से कहीं ज्यादा बढ़ गई है। कोई करोड़ों का मुकुट पहना रहा है तो कोई ऊँची से ऊँची मूरत बनवा देने का वादा कर रहा है, तो कोई दौड़ में पिछड़ न जाए इस भय से चारों धाम की यात्रा पर निकल पड़ा है। आज के राजनेताओं ने भगवान की कृपा प्राप्त कर ली है, देवताओं के साथ उनका भी जयकारा हो रहा है। मुझे याद है पं. जवाहरलाल अपने को 'एक्सिडेंटल हिंदू' कहते थे। मंदिर-मस्जिद में जाने से बचते थे। शायद इसीलिए आज देवता लोग उनसे नाखुश हैं। इसलिए देव-भक्त भी उन पर नाराज हैं। गलती किए, एक भी मंदिर का पुनर्निर्माण नहीं कराया। भोगना पड़ेगा ही। आज की राजनीति में असहमति की जगह चरित्र हनन ने ले ली है। बस चले तो उन्हें जिलाकर देशद्रोह की मुकदमा चलाया जाए।

आज की सांस्कृतिक और राजनीतिक माहौल देवी-देवताओं के पक्ष में है। रामनाम की लूट मची है। जो चतुर-चालाक हैं वे लूट रहे हैं। अरबों रुपये धर्मस्थलों के निर्माण, पुनर्निर्माण पर खर्च हो रहा है। मेलों ठेलों के भाग्य से सिकहर टूटा है, हो सकता है 'जिस काम को हमारे देवता नहीं कर सके वह स्वर्ग की सीढ़ी भी हम लगा लेंगे। लेकिन भय है इन सजीव भक्तों के पहुँच जाने से स्वर्ग का संतुलन कहीं बिगड़ न जाय। तुलसीदास ने तो कहा है देव बड़े 'कुचाली' होते हैं। शायद उनकी कुचाल के आगे हमारी चाल फेल न हो जाए। अगर हम सफल हुए तो फिर देवलोक में.... का फार्मूला लागू कर जन-जाति, वन जातियों को मौका देंगे। ऐसे में हो सकता है, हमारे इस देव हनुमान का भी कुछ दिन इंद्रासन पर बैठने का मौका मिल जाए। अगर वे कुर्सी पर बैठने को राजी हुए तो। पवन प्रभु हैं न। अस्थिर। किंग मेकर को किंग बनने में मजा नहीं आता। हमने पहले ही कहा है कि धर्म आस्था का भाव है, और आस्थावान या धार्मिक होना कोई खराब बात नहीं है। हनुमान जी आस्था के विग्रह हैं, अतएव उनके प्रति आस्थावान होकर उनसे ऊर्जा ग्रहण करना भी बेजा नहीं है। कुछ लोग धर्म सुनते ही भड़क जाते हैं। कुछ लोग मार्क्स का विरोध कर कहते हैं कि वह धर्म विरोधी थे, वे धर्म को अफीम कहते हैं। जरूर कहा है, मगर जो लोग मार्क्स के बारे में इतना जानते हैं, उन्हें यह भी जानना चाहिए कि मार्क्स ने विश्व के धर्मों का गहन अध्ययन किया था, उनके सहधर्मी एंगेल्स ने भी। रामविलास शर्मा ने मार्क्स और एंगेल्स के मतों का हवाला देकर कहा है कि वे धर्म की प्रगतिशील भूमिका भी स्वीकारते हैं। हमें धर्म की प्रगतिशील भूमिका को स्वीकार करना चाहिए। धर्म को ठेलकर बहा देने से हमें अपनी सांस्कृतिक विरासत को खो देना होगा। जरूरत है जनमानस की आस्था की सही उपयोग, वनोआस्था, अंधविश्वास के गलियारे में भटकती रहेगी, जैसा कि आज हो रहा है। धर्म हमारी प्रेरणा का स्रोत रहा है। सद्मार्ग पर चलने की सीख देता रहा है। हमारे जीवन की आचार संहिता रहा है।

हमारा धर्म सनातन धर्म है। यह धर्म जब राजनीति के उद्देश्य प्राप्ति की साधन बनता है तब कलुषित होकर अपनी विश्वसनीयता खो देता है। आज तो असंत से लेकर संत तक सभी नेता हो गए हैं, पेशेवर राजनीतिज्ञ तो हैं ही। पहले हम कहते थे कि अधर्म की बात मत कीजिए, आज कहते हैं पालिटिक्स मत कीजिए, धर्म को कितना छोटा होना पड़ा है। भर्तृहरि ने राजनीति के लिए कहा है—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च

हिंसा दयालुरापे- चार्थपरा वदन्या।

नित्यव्यथा प्रचुरनित्य धनागमा च

... गनेब नृपनातिरनेक रूपा (भर्तृहरि)

“राजनीति कभी सत्यमयी, कभी मिथ्यामयी, कभी प्रियवादिनी, कभी दयालु, कभी लोभी, कभी उदार, कभी अत्यंत खर्चीली, कभी अत्यंत अर्जनशील होती है। सचमुच वेश्या की ही तरह वह अनेक रूपा है।”

भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है, न धर्म का राजनीतिकरण ही मंगलदायक है और न ही राजनीति का धर्माकरण। आज जिस रूप में धर्म का राजनीतिक और संस्थानीकरण हो रहा है। वह बराबर सामाजिक संतुलन में बाधक रहा है। हमारे ऋषि, महर्षियों एवं भक्ति संप्रदाय के आचार्यों ने उसका खंडन किया है। ऐसे ही आचार्यों में रामानंद थे। ‘रामचरितमानस’ के रचनाकार तुलसीदास जिन्होंने हनुमानचरित की भी रचना की है, उनके ही शिष्य कहे जाते हैं।

हम आज हनुमान जी का जिस तरह संस्थानीकरण कर रहे हैं, गोसाई के हनुमान जी हमने पहले ही कहा उस तरह नहीं हैं। उन्होंने राम जैसे धर्म धुरंधर एवं परहितकारी को यों ही बस में नहीं कर रखा था।

‘रामचरितमानस’ पर आने के पहले मैं थोड़ी चर्चा ‘हनुमान चालीसा’ की करना चाहूँगा, वह भी तुलसीदास ही का है और रामचरित की भांति हनुमानचरित भी है। मानस में जो कुछ छूट गया है, वह उसमें बहुत कुछ जोड़ दिया गया है। एक तरह से मानस के हनुमान-चरित का पूरक है। यह चालीसा इतना प्रभावशाली है कि छोटे-

बड़े, बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष सबकी जवान पर है और किसी देवी-देवता की वंदना याद हो या न याद हो, हनुमान चालीसा जरूर याद होगी। लड़के बचपन में ही याद कर लेते हैं, बड़े एक बार भूल जाते हैं, समय पड़ने पर फिर याद कर लेते हैं। क्योंकि हनुमान जी 'संकटमोचन' हैं, संकट से छुड़ाते हैं। संकट किस पर नहीं आता।

संकट से हनुमान छुड़ावैं।

मन क्रम वचन, ध्यान जो लावैं।। (हनुमान चालीसा)

मैं गवाह में मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवर सिंह को पेश कर रहा हूँ। जिस भगवान ने आपको बनाया है, उसी ने मार्क्सवादियों को भी बनाया है। सभ्यता और संस्कृति से उनका भी गहरा नाता है। यह गलतफहमी न पालिए कि मार्क्स या मार्क्सवादी धर्म की प्रगतिशील भूमिका को नकारते हैं। अगर धर्म में सकारात्मकता है तो वह उन्हें भी स्वीकार्य है। भक्तिकाल के अवदान को स्वीकारने और उसे लोक जागरण का काल कहने वाले मार्क्सवादी ही हैं। मैं बात डॉ. रामविलास शर्मा की कर रहा हूँ। यों डॉ. मैनेजर पाण्डेय या अन्य मार्क्सवादियों का नाम फिलहाल छोड़ रहा हूँ।

कुछ दिन पहले मैं डॉ. नामवर सिंह का एक साक्षात्कार पढ़ रहा था। उसमें उन्होंने कहा है कि बचपन में जब किसी बाग-बगीचे या अंधेरी जगह से अकेले गुजरता था तब जोर-जोर से हनुमान चालीसा का पाठ करता था। मुझे आज भी याद है, कहिए तो सुना सकता हूँ। बात तो ठीक ही है, नामवर सिंह में समझदारी पहले ही आ गई थी, बड़ी उम्र और नामवरी तो बाद में हासिल हुई। हनुमान चालीसा में लिखा ही है-

भूत पिशाच निकट नहिं आवैं

महाबीर जब नाम सुनावैं।। (हनुमान चालीसा)

जो अधर्मी हैं या उनके कट्टर भक्त हैं वे कह सकते हैं कि तब वे रहे 'अचेत'। मगर ताउम्र नामवर सिंह ने धर्म की भूमिका को नकारा नहीं हैं, नकारेंगे कैसे। वे रामभक्त तुलसीदास का नाम लेकर कहते रहे, हिंदी को समझने की सबसे खरी कसौटी तुलसीदास है। हर समझदार प्रगतिशील

आलोचक भक्तिकाव्य की भूमिका स्वीकारता है, जबकि समूचा भक्तिकाव्य धर्माच्छादित है। डॉ. रामविलास शर्मा की अंतिम पुस्तक 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' है। धर्म, राजनीति और साहित्य, तीनों जगत में इतने प्रतिष्ठित श्री हनुमान जी क्या केवल झाड़ू-फूँक, गंडा-ताबीज या गलत-सही मनोकामना पूरी करने वाले देवता हैं? क्या तुलसीदास ने 'अतुलित बल धामां' कहकर जिनकी वंदना की थी, वह कोई और हनुमान है-

अतुलित बलधामं, हेम शैलाभ देहं

दनुज बन कृशानुं सानिनामग्रगण्यम्।

सकल गुणनिधानं बानराणामधीशं

रघुपति प्रियभक्तं बातजातं नमामि।। (रामचरितमानस)

हनुमान जी लाख कहें कि 'प्रात लेई जो नाम हमारा। ता दिन ताहि न मिले अहारा', मगर हकीकत यह है कि प्रतिदिन देश-विदेश के मंदिरों में कुंटलों लड्डू चढ़ता है, वह न केवल सेवकियों बल्कि सामान्य भक्तों की आत्मा को तुष्ट करता है। हमारे देवता चढ़ावे का उपभोग खुद नहीं करते भक्तों के काम आता है। हमारा तो आदर्श ही रहा है। गणेश नाहक बदनाम हो गये, दूध कांड में।

तरुवर फल नहिं खात है, सरिता पिवैं न नीर।

रहिमन परहित कारने, संतन धरी शरीर।।

पता नहीं कैसे भक्तों ने गणेश जी को दूध पिलाकर बदनाम कर दिया। हो सकता है उन्हें उनके श्रेष्ठ पद से हटा देने के लिए देवता और मनुष्य दोनों की मिली-जुली साजिश रही हो। मगर कुछ दूध पीने की कहानी झूठी निकली, दूध का दूध और पानी का पानी हो गया। हमारे देवता फिजूलखर्ची नहीं करते, उनके वाहनो को देखकर ही इसका पता लगता है, किसी का चूहा, किसी का बैल, किसी का हंस है किसी का मोर। यहाँ तक कि सिंह को भी सवारी में लगा लिया। तेल-पेट्रोल का खर्च बचा लिया। इसलिए कि भक्तों के काम आएगा। भक्त वत्सलता की अद्भुत मिसाल। यहाँ तक कि उल्लुओं को भी काम में लगा दिया। लगता है तभी से उल्लुओं का रुतबा बढ़ गया है। खुद कुछ भी करें, भक्तों को सवारी चुनने की छूट दे

रखी है। वे चाहें देशी चाहे विदेशी कुछ भी चुन लें। यों तो रामचरितमानस में राम और भरत का चरित्र ही मुख्य है, किंतु हनुमान भी कम नहीं है। वे बालकांड से लेकर उत्तरकांड तक छाए हुए हैं। यह और बात है कि आजकल उन्हें प्रसन्न करने के लिए 'सुंदरकांड' का जयकारा ज्यादा सुनायी पड़ता है। एक बात और कह दूँ, सरकारी छुट्टी की तालिका में उन्हें कोई तिथि या दिन भले न दिया गया हो, जनता ने उन्हें एक नहीं दो दिन शनिवार और मंगलवार दे रखा है। यह है उनकी जनप्रियता।

बालकांड के शुरू के ही श्लोक के चौथे छंद में तुलसीदास ने वाल्मीकि के साथ उनकी वंदना की है। बड़ा ऊँचा पीढ़ा दिया है—

*सीताराम मुणग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ
बन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ।*

बाद की घटना से पता लगता है, उन दिनों हनुमान जो राजा सुग्रीव के दरबार में थे, शायद मंत्रिमंडल में। उस समय सुग्रीव भी थे, राजकुमार अंगद भी थे, जांबवंत थे, मगर गोसाईं जी ने वंदना हनुमान की ही की। सहज ही अनुमान किया जा सकता है, हनुमान जी का उन दिनों कितना महत्व रहा होगा।

यहाँ भी कवि और कपि दोनों की वन्दना साथ-साथ है।
बन्दऊँ मुनि पद कंजु, रामायन जेहि निरमयउ।

सखर सुकोमल गंजु, दोषरहित दूषन सहित। ११ १४।

कपि कहीं छूटे नहीं है, राजपरिवार के बाद हनुमान जी का ही नंबर है।

प्रनवऊँ पवन कुमार, खल बल पावक ज्ञान घन।

जासु हृदय आगार, बसहिराम सर चाय धरि।

हमने पहले ही कहा है, हनुमान है तो राम भी और राम है तो हनुमान भी। एक ही जगह व्यतिक्रम देख रहा हूँ, कि जहाँ राम के पुनर्वास के लिए इतने भक्त जुटे हैं, वहाँ आज तक एक बार भी किसी को यह कहते नहीं सुना कि एक मंदिर हनुमान का भी बने। हो सकता है कि हिंडेन एंजेंडा (गुप्त मसौदा) में यह हो। होना चाहिए। हमें लगता है जिस 'जय श्रीराम' का इतना चलन है वह

हनुमान जी का ही दिया गया मंत्र है। समुद्र पार करते समय और लंका में राक्षसी सेना पर आक्रमण करते समय वह इसी मंत्र का उच्चारण किए थे। अयोध्याकांड में हनुमान जी आराध्य और ऐसे रामभक्त के रूप में वर्णित हैं, जिनके हृदय में धनुषवाणधारी श्रीराम विराज रहे हैं। शांतिदूत नहीं, सेनानी के वेष में। इससे अंदाज लगा सकते हैं कि जब मालिक का यह हाल है तो सेवक का मिजाज कैसा रहा होगा। राम शक्ति रूपा देव है। हनुमान भी अतुलित बलधाम है।

अयोध्याकाण्ड में एक तापस का वर्णन है। राम यमुनापार तीरवासियों से बात कर रहे हैं, उसी समय की घटना है कि कमउग्र का एक तेजस्वी तापस आता है।

तेहि अवसर एक तापस आवा।

तेज पुंज लघुरूप बयस सुहावा। १२ १०९ १४

लेकिन यह तापस हनुमान जी ही थे, पक्के तौर पर कोई कहने को राजी नहीं है। कुछ लोग इसे क्षेपक मानते हैं। गीताप्रेस के रामायण में दुविधा बतायी गयी है कि या तो यह तापस हनुमान जी हैं अथवा स्वयं तुलसीदास हैं। सूर्य हनुमान जी की ओर ही घूमती है।

अरण्यकांड सूना गया है। किष्किंधाकाण्ड में राम झृष्यमूक पर्वत के पास पहुँचे हैं। उन दिनों वहाँ सुग्रीव का राज्य था। हनुमान जी उन दिनों इन्हीं सुग्रीव के दरबार में रहते थे। सुग्रीव और उनके बड़े भाई में पटती नहीं थी। सुग्रीव डरते थे कि कहीं बालि उनकी गद्दी छीन न लें। गद्दी बचाने की चिंता तो हर गद्दी नशीन को होती है। ऐसे में सुग्रीव को हनुमान की बड़ी जरूरत थी। उधर राम और लक्ष्मण सीता को खोजते-खोजते ऋष्यमूक पहुँच गए। सुग्रीव को पता लगा कि वे दोनों हमारे राज में आ गये हैं। वह भयभीत हो उठे। फौरन हनुमान जी को बुलाया। और कहा, काम जोखिम का है, ब्राह्मण वेश धारण कर जाइए। यह भी समझा दिया कि हंगामा मत करिएगा, सहज ढंग से जान बूझ कर आकर हमें बताइएगा। लगता है कि उन दिनों आतंकी या घुसपैठी जैसी रणनीति चालू नहीं हुई थी।

अति सभित कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बलरूप।
धरि बटुरूप देखु तै जाई। कहेसु जानि जिस निधाना।
सयन बुझाई॥

लगता है हनुमान जी कूटनीति में निपुण थे, वेष बदलना जानते थे, अच्छी जासूसी करते रहे होंगे तभी राजा सुग्रीव ने उन्हें भेजा होगा। हनुमान जी ने राजा की आज्ञा मान ली। काम जोखिम का तो था ही, मगर राजाज्ञा भी तो है। खैर जोखिम उठाया और जाकर राम लक्ष्मण से पूछा—

विप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइअसपूछत भयऊ॥

डिप्लोमेसी का तकाजा था, रोबदाब नहीं दिखाए, न ही विवाद बढ़ाया, सर नवाकर उनसे पूछा कि आप तीनों देवताओं में कौन हैं, नर-नारायण तो नहीं हैं।

की तुम तीनि देप गँह कोऊं। नर नारायण की तुम दोऊ।

‘बातन हाथी पाइये, की राजनीति काम कर गयी। राम को भी विश्वास हो गया कि कोई सज्जन है और ब्राह्मण के वेश में है। असज्जन होंगे। आज का युग नहीं था, तब वेष पर लोगों का विश्वास था। राम ने खुले मन से सब कुछ बता दिया, हम कौन हैं, क्यों यहाँ आए हैं, छिपाया कुछ नहीं।

कौशलेश दशरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन
आये। नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि
सुहाई॥

इहाँ हरी निशिचर बैदेही। विप्र फिरहीं हम खोजत ते ही
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु विप्र निज कथा बुझाई॥

“यंत्रणा में सहानुभूति पैदा करने की शक्ति होती है। (प्रेमचंद) राम भी कम नीतिकुशल नहीं थे। सोचा कुछ काम बन जाएगा। और हनुमान जी से अनुरोध किया, विप्र अब आप भी जी खोलकर अपना परिचय दीजिए। हनुमान ने अपने को छिपाया था, यह उनकी गलती थी, गलती को स्वीकारना चरित्र की बड़ी विशेषता है, हनुमान जी में यह गुण था। वे राम के पैरों पर पड़ गए। राम भी उदार थे, उन्होंने हनुमान को गले लगाया। राम के सच्चे स्वभाव को देखकर हनुमान की आशंका

दूर हुई और उन्होंने लौटकर सुग्रीव को बताया कि वे बालि के भेजे हुए नहीं हैं, स्वयं राम है, भगवान। सुग्रीव की चिंता दूर हुई।

हनुमान ने इससे आगे बढ़कर और भी काम किया। वे जोड़ने वाले थे। मौके को पहचान गए। सुग्रीव को भय सता रहा था, बालि का, राम की पत्नी सीता का हरण हुआ था। एक भाई के रहने से दुखी था दूसरा पत्नी के न रहने से दुखी था। हनुमान को लगा कि अगर दोनों में मैत्री हो जाए तो दोनों का भला होगा। भला आदमी भला काम ही करते हैं।

हनुमान जी ने सोचा एक राजा है दूसरे राजकुंअर, दोनों के सम्मान की रक्षा की जानी चाहिए। यहाँ ज्ञानी गुणी हनुमान जी का बुद्धिवैभव देखिए। राम ने अपना परिचय अपने राजपरिवार और स्वयं का परिचय देकर बता दिया था कि मैं कौशल नरेश का पुत्र हूँ, कोई ऐरा-गैरा नहीं। हनुमान सुग्रीव के राज में रहते ही थे। उन्होंने प्रोटोकॉल की रक्षा की। राम को बताया यहाँ इस पर्वत पर कपिपति सुग्रीव रहते हैं। साधारण वानर नहीं कहा। वे आपके दास हैं—

नाथ सैल पर कपि पति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई।

मैं उनसे मैत्री करने को कह रहा हूँ। एक भरोसेमंद शक्तिशाली से मैत्री की बात कही। वहाँ सुग्रीव को भी बता दिया कि वे कौशल के राजकुमार हैं, ऐरे गैरे नहीं। राजा और राजकुंवर दोनों के सम्मान की रक्षा करना था। काम भी बता दिया, सीता की खोज करना है। गोसाईंजी ने मोहर लगाई—

तब हनुमंत उभयदिसि की सबकथा सुनाई।

पावक साखी देई करि, जोरी प्रीति बढाई॥

यह काम गंडा, ताबीज का नहीं है, बुद्धि का खेल है। दो आफतजदाओं के बीच का मेल है, हनुमान जी की बुद्धि का परिचायक है। तभी ज्ञानियों में अग्रगण्य है। सुग्रीव ने राम से कहा—

सब प्रकार करिहऊ सेवकाई।

जेहि विधि मिली जानकी माई।

सुग्रीव ने कहा हमने देखा है आकाश मार्ग से कोई उन्हें ले जा रहा था, रो-विलख रही थी। हम मंत्रियों के साथ पर्वत पर बैठे थे, उन्होंने अपना एक वस्त्र गिरा दिया। राम ने वस्त्र को देखकर पहचान लिया यह सीता की है।

राम ने हनुमान को तो अपना परिचय दे दिया था, मगर अभी उन्हें सुग्रीव का पूरा परिचय नहीं मिला था अजनबी से मैत्री करते समय जानकारी पूरी होनी ही चाहिए। राम ने पूछा—

कारन कवन बसहु वन, मोहि कहहु सुग्रीव।

राम ने अपनी बीती बतायी, सुग्रीव ने अपनी। राम ने बालि की हत्या कर राजगद्दी दे दिया।

राम ने संधि के अनुसार अपना काम पूरा किया। मगर सुग्रीव अपना वादा भूल गए। लक्ष्मण का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। मगर हनुमान जी कैसे भूलते। वे सुग्रीव के पास गए और साम-दाम, दण्ड-भेद चारों प्रकार से सुग्रीव को समझा दिया कि काम अच्छा नहीं कर रहे हैं। मध्यस्थ थे न। धोखेबाज कहे जाते।

*इहाँ पवन सुत हृदय विचारा। राम काजु सुग्रीव बिसारा।
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहुविधि तेहि कह समझावा।।*

जब सुग्रीव को लक्ष्मण के क्रोध का पता लगा तो घबड़ा गए। कोई बुद्धि काम न आई। फिर हनुमान जी की शरण में गए और कहा हे हनुमान सीता की खोज का अभियान आप के हाथों सौंपता हूँ, वानरी सेना चारों दिशाओं में भेज दीजिए। हनुमान जी ने दायित्व का यथोचित निर्वाह किया। एक सेनाधिकारी की तरह। खोज का काम तो शुरू हो गया। मगर लक्ष्मण के क्रोध को कैसे शांत किया जाए। सुग्रीव लक्ष्मण के सामने जाना नहीं चाहते थे। उन्हें फिर याद आई हनुमान की। अबकी चाल चली कहा कि तारा को साथ लेकर जाइए। जानते थे कि स्त्री के सामने लक्ष्मण नरम पड़ जाएँगे। रघुकूल के हैं, कुपथ पर पैर नहीं रखेंगे। यों सूर्यणखा का नाक-कान लक्ष्मण काट चुके थे, फिर भी सुग्रीव ने कैसे सोचा कि तारा का सम्मान करेंगे? यहाँ भी सुग्रीव की बुद्धि कम

हनुमान की त्वरित बुद्धि काम आई। अनुनय-विनय की नीति का सहारा लिया, प्रशंसा भी खूब की। बात बन गई। कैसे बनी, तारा के जाने से, हनुमान जी की त्वरित बुद्धि से, या आत्म प्रशंसा से। क्योंकि आत्म प्रशंसा का मद भी बड़ा मादक होता है या राम की रणनीति से। क्योंकि सुग्रीव की मैत्री आवश्यक थी।

सुग्रीव ने वानरी सेना को चारों दिशाओं में भेज दिया। फिर सेनानायकों नील, अंगद, हनुमान, जांबवंत को बुलाकर कहा तुम सब लोग दक्षिण दिशा को जाओ। लगता है यह सब राम और लक्ष्मण के सामने ही हो रहा था। सुग्रीव के यहाँ तो हनुमान जी अपरिहार्य हैं। यहाँ देख रहा हूँ कि सारे सेनापतियों में राम हनुमान को ज्यादा भरोसेमंद मान रहे हैं। क्योंकि जब सभी नायक चलने लगे तब राम ने विशेष रूप से हनुमान को रोककर उनको अपनी मुँदरी दिया और कहा— सीता को हमारे बल और उनके प्रति प्रेम को अच्छी तरह समझा आइए।

इससे साबित है कि हनुमान की कार्य क्षमता पर सुग्रीव का साम्राज्य तो टिका था ही, राम भी उन्हीं पर अधिक भरोसा कर रहे हैं। सभी अभियान में शामिल हुए। मगर जहाँ संकट आता वहाँ संकटमोचन ही दिखाई पड़ रहे हैं। खोज-दल आगे बढ़ रहा है। लोगों को खूब प्यास लगी। कहीं पानी का पता नहीं। यहाँ भी और कोई नहीं हनुमान जी ही पर्वत की चोटी पर चढ़कर देखते हैं कि एक गुफा है, वहाँ बहुत तरह के पक्षी उड़ रहे हैं, गुफा में आ-जा रहे हैं। हनुमान जी को समझने में देर न लगी कि हो न हो वहाँ पानी है। वहाँ पानी तो मिला ही। स्वयं प्रभा नामक तपस्विनी भी मिली जिसकी कृपा से सभी समुद्र के किनारे पहुँच गये। एक पंथ दो काज।

सभी समुद्र के किनारे आ गए। मगर सीता का पता न लगा सके। इधर सुग्रीव का फरमान कि अगर एक माह के भीतर पता नहीं लगा सके तो किसी को जिंदा नहीं छोड़ूँगा। संयोग था, यहाँ इनकी मुलाकात संपाती से हो गई। उन्होंने सीता की हुलिया बता दी। बताया

त्रिकूट पर्वत पर लंका नगरी में अशोक उपवन में रावण ने सीता को रखा है। बीच में सौ योजन का समुद्र है, जो इसे पार करेगा वहीं सीता के पास तक जा सकेगा। सभी सोचने लगे इस काम को कौन कर सकता है। संपाती ने सबको उत्साहित किया, कहा डरो नहीं, राम को हृदय में धारण करो पार चले जाओगे। मैं बूढ़ा हो गया हूँ नहीं तो तुम्हारी कुछ मदद करता। जवान वानरों को चुनौती थी।

अंगद ने कहा कि मैं पार जा सकता हूँ मगर एक बात का संदेह है। इसमें एक अंतर्कथा है। जांबवंत सेनाध्यक्ष थे। उन्होंने कहा तुम सब तरह योग्य हो, मगर तुम सबके नायक हो, तुमको कैसे भेज सकता हूँ। तब रहे हनुमान, सेनानायक ने हनुमान की ओर देखा। वे अभी चुपचाप थे, सबकी सुन रहे थे। जांबवंत ने उनकी पीठ ठोकी, गुणों का वर्णन किया।

*कवन सो काज कठिन जग माँही, जे नहिं होइ तात तुम पाहीं।
राम काज लागि तब अवतारा। तुरतहि गयक पर्वताकारा।।*

हनुमान पार जाने को तैयार। सेनानायक के निर्देश की प्रतीक्षा। निर्देश हुआ—

एतना करहु तात तुम जाई। सीताहि देखि कहहु सुधि आई।

वही निर्देश जिसे एक बार राम ने दिया था, उसी को जांबवंत भी दे रहे हैं। सीता से अशोक वाटिका में विदायी के समय हनुमान ने कहा था माता मैं, अभी तुम्हें साथ ले जाता, राम की दुहाई देकर सच कह रहा, उनकी आज्ञा नहीं है।

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभुआगसु नहिं राम दोहाई।

हनुमान ने आदेश का पालन किया।

इसके बाद की कहानी हनुमान द्वारा लंका पार की जाने वाली सर्जिकल स्ट्राइक है। फिर कभी।

इतने से संभवतः श्री हनुमान के प्रताप का अनुमान हो गया कि वे क्या थे। जय हनुमान जी की। अच्छा हो कि राम जी के साथ उनके भक्त हनुमान जी की भी प्राण-प्रतीष्ठा कर दी जाए। एक मंदिर और बन जाए।

संपर्क: ४१ २/३ एफ, बक्सी खुर्द, दारागंज, प्रयागराज-२११००६, मो. ८००४०४०५७६

हिन्दी में नई संस्कृति के तीन स्रोत शशिभूषण द्विवेदी

क्या हम इक्कीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध में, जब यह शताब्दी सिर्फ बीस वर्ष की किशोर या किशोरी ही हैं; यह कहने की स्थिति में हैं कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिंदी के जो पुरोधा इस धराधाम पर आए, उनका लगातार अवसान इस बात का संकेतक और प्रमाण है कि इन लोगों ने हमारे समाज के लिए एक उदात्त और उत्तरोत्तर प्रगतिशील और प्रश्नाकुल संस्कृति की शाश्वत अनवरता का रास्ता खोला; जो साहित्य में हमेशा 'नए' को जन्म देकर सभ्यता-संस्कृति के विमर्श के अलग-अलग कोणों का अन्वेषण करती है; और सामाजिक जीवन को निरंतर उदात्त बनाते हुए नए 'प्रश्न' इसलिए खड़े करती है ताकि 'उत्तर', जैनेन्द्र कुमार के शब्दों में, प्रश्न को 'बंद' नहीं करें और इन सभी का कारवां हमेशा गतिमान रहे!

क्या ये सभी एक महीने के भीतर ही दिवंगत हुए डॉ. गंगा प्रसाद विमल (३ जुलाई १९३९-२३ दिसंबर २०१९), प्रो. कृष्ण बलदेव वैद (२७ जुलाई १९२७-६ फरवरी २०२०) और ये पंक्तियाँ लिखने के सिर्फ एक दिन पहले गुजरे प्रो. गिरिराज किशोर (८ जुलाई १९३७-९ फरवरी २०२०) इस कसौटी पर खरे उतरते हैं कि इन तीनों लगभग समकालीनों ने हिंदी में तीन तरह की लेखन धाराओं-विधाओं का ऐतिहासिक, प्रतिनिधित्व किया; और आज जब माओ की सात लाख लोगों की हत्याओं वाली 'सांस्कृतिक-क्रांति' और राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक संघ (याद करने लायक सच्चाई यह है कि 'संघ' और 'कम्युनिस्ट पार्टी' दोनों की स्थापना १९२५ में हुई थी) नाम का 'सांस्कृतिक-संगठन' न्यूटन की क्रिया-प्रतिक्रिया (याद करें न्यूटन की गति का तीसरा सिद्धांत 'To every action, there is an equal and opposite reaction') को एक को बिल्कुल नए प्रति-सांस्कृतिक अंदाज में विमर्शित कर रहे हैं; तो इन तीनों के अवसान से खाली स्थान या स्पेस सामाजिक-सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रश्नों पर बहसों का एक नया आयाम हमारे सामने खोलने में समर्थ है ?

इसे देखना-खोलना-समझना दिलचस्प, सामयिक और आवश्यक सब कुछ है क्या ? ? आइये देखें !

प्राध्यापक, कवि-कथाकार-अनुवादक प्रो. गंगा प्रसाद विमल लगभग एक महीने पहले एक विदेशी धरती यानि श्रीलंका में दिवंगत हुए। वे हिंदी साहित्य के इतिहास के 'अकहानी' दौर के कथाकार थे। अपनी कई किताबों और लेखों में उन्होंने प्रेमचंद के समय की कहानी के पुराने ढाँचों को अस्वीकार करते हुए यह स्थापित करने की कोशिश की कि हर लेखन की हर विधा हमेशा एक नया प्रयोग है और सामाजिक-जीवन का सांस्कृतिक-जीवन और 'समय' अगर इस 'प्रयोग' (आजकल 'संयोग' और 'प्रयोग' की खूब चर्चा है) को स्वीकार्य मानकर स्वीकार कर लेते हैं तो वह साहित्य का स्वीकृत सच हो जाता है; और जीवन को उससे कुछ-न-कुछ हासिल होते रहने की एक प्रक्रिया शुरू हो जाती है। यह आंदोलन 'अकविता' वाले आंदोलन की तरह बहुत दिनों तक टिका तो नहीं; लेकिन इस नई शब्दावली ने एक पूरी पीढ़ी को आकर्षित किया और साहित्य के प्रचलित या पारंपरिक ढाँचे पर विचार की एक नई संस्कृति हिंदी में आई जिसे 'नई-कहानी' के नयेपन के एक सूत्र या कोण के रूप में देखा-परखा जाने लगा। यह क्रम लगातार जारी है और आज की कहानी में इसके कई सूत्र सक्रिय हैं।

दुनिया जानती हैं कि १९६० के दशक में राजनीति साहित्य-विमर्श के केन्द्र में आ ही रही थी; इसलिए इस आंदोलन ने नकार-स्वीकार के बीच एक सेतु का काम किया और डॉ. महीप सिंह के 'सचेतन-कहानी' के योगदान से इस आंदोलन ने हिंदी को एक नया मोड़ दिया। वह साहित्य के इतिहास का अंश हो गया है। वैसे भी साहित्य संस्कृति का हिस्सा या उपज तो है ही। इस तरह विमल जी, - जिनसे मेरा आत्मीय संपर्क दिल्ली विश्वविद्यालय के १९८० के दशक में मेरे विद्यार्थी-जीवन से रहा, एक ऐसी साहित्यिक संस्कृति छोड़ गए हैं जो विमर्श का भरपूर 'स्पेस' मुहैया कराती है और सभ्यताओं को आगे बढ़ाने में साहित्य की मदद करके, नए विमर्शों का रास्ता खोलकर ज्ञान के बाकी अनुशासनों की न सिर्फ मदद करती है; बल्कि उनका काम भी आसान करती है। यही नहीं पंजाब के चंडीगढ़ और अमृतसर में डॉ. रमेश कुंतल मेघ के मेधावी विद्यार्थी डॉ. विमल यहीं से पंजाब के एक और सपूत प्रो. कृष्ण बलदेव वैद पर सोचने-विचारने का सूत्र भी देते इस संदर्भ- अर्थ में प्रतीत होते हैं कि दोनों ने 'प्रचलित' या पारंपरिक से अलग रास्ता अपने गद्य में अपनाया। डॉ. विमल डॉ. मेघ के अमृतसर के गुरुनानक देव विश्वविद्यालय में विद्यार्थी रहे। प्रो. मेघ हिंदी में 'सौन्दर्यबोध शास्त्र' के एकमात्र स्वीकृत अध्येता हैं।

प्रो. वैद जीवन भर अंग्रेजों के गढ़ अमेरिका में अंग्रेजी पढ़ाते रहे लेकिन अपनी संस्कृति की जड़ों से जुड़े रहकर सारा लेखन हिंदी में किया। जैसे डॉ. विमल 'अकहानी' के लेखक माने जाते हैं उसी तरह प्रो. वैद 'कथाहीनता' के कहानीकार माने जाते हैं जैसा कि 'मायालोक' नामक उनका उपन्यास हमें सूचित करता है। डॉ. विमल का एक कविता संग्रह 'सन्नाटे में मुठभेड़' क्या कुछ ऐसी ही ध्वनि नहीं देता? दोनों उस 'समय' के लेखक हैं जहां तर्क काम का नहीं होता और न जिसे 'कार्य-कारण' की दार्शनिक शब्दावली से विमर्शित किया जा सकता है। वहाँ जर्मन लेखक हर्मन हेंस का 'अनुभव' या फीलिंग हों रसा-स्वादन का स्रोत होता है और वह हमेशा अमूर्त होता है।

प्रो. वैद हिंदी के एक अनोखे उदाहरण हैं और इसीलिए हिंदी साहित्य में उनकी उपस्थिति उन्हें ऐतिहासिक बनाती है। वे 'नकार' के लेखक रहे और लेखन में एक 'प्रतिपक्ष' के भारी समर्थक रहें जो कमोबेश नएपन का एक मुख्य कारण ही है। उससे भी विमर्श के नए क्षितिज खुलते हैं। लेकिन प्रो. वैद के जीवन और साहित्य की एक नई संस्कृति का सूत्रपात भी होता है जिसे साहित्य के हर विद्यार्थी को समझना चाहिए वह यह कि लेखन वही जीवित होता है जिसमें लेखक अपनी मातृभाषा में अपनी आत्मा उड़ेल दे। वरना एक अमरीकी विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में पीएच.डी. करके वहाँ के एक विश्वविद्यालय में जीवन भर अंग्रेजी पढ़ाने वाला आदमी हिंदी को लेखन के लिए क्यों चुनता?

प्रो. वैद बड़े आराम से अंग्रेजी में उतने ही स्वीकृत होते जितने वे हिंदी में थे। आखिर उसी न्यूयार्क में रहते हुए पिछले वर्ष ज्ञानपीठ से सम्मानित अमिताभ घोष अंग्रेजी में लिख ही रहे हैं। जहाँ प्रो. वैद पढ़ाते/रहते थे। अंग्रेजी में लेखन के लिए एक और बात उनके पक्ष में थी कि वे उस जीवन को आसानी से और गहराई से समझते थे और उसे अंग्रेजी में लिखने की क्षमता भी रखते थे। बल्कि वह जीवन अंग्रेजी में बेहतर ढंग से लिखा जा सकता था। लेकिन प्रो. वैद की महानता और हिंदी भाषा पर महारत ने उनसे उस जीवन को भी लिखवाया हिंदी में ही!! यह उस लेखक की अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहने की ललक का 'सौन्दर्यशास्त्रीय' या एस्थेटिक उदात्त भी है; जो लेखक और लेखन दोनों को 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' वाली महानता देता है। यहाँ कुछ प्रसंगों का उल्लेख स्मरणीय है जिनका संबंध किसी-न-किसी रूप में प्रो. वैद से जुड़ता है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर से जब कोई मिलने जाता था तो वे पहले उस व्यक्ति की मातृभाषा और फिर उसके लेखन की भाषा पूछते थे और हर व्यक्ति को अपनी 'मातृभाषा' में लिखने की सलाह देते थे। स्वर्गीय अभिनेता बलराज साहनी- जो अंग्रेजी, हिंदी, पंजाबी आदि में पारंगत थे, उनसे नौकरी के लिए मिलने गए। गुरुदेव के यह

पूछने पर कि उनकी मातृभाषा क्या है? उन्होंने जवाब में पंजाबी कहा; और यह पूछने पर कि उनके लेखन की भाषा क्या है; जवाब दिया कि वे हिंदी में लिखते हैं। टैगोर ने उन्हें पंजाबी में ही लिखने की सलाह दी। हालांकि अंग्रेजी में श्री साहनी की महारत देखकर उन्होंने वहाँ उन्हें अंग्रेजी शिक्षक रख लिया। गुरुदेव की यह उक्ति एक उद्धरण बन गई है।

यह भी स्मरणीय है कि जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, इटली, जापान आदि कई विकसित देशों का कोई लेखक अंग्रेजी में लेखन नहीं करता। प्रो. वैद इस अकाट्य तर्क के सांस्कृतिक प्रतीक हैं कि अपनी भाषा में ही टकसाल लेखन हो सकता है। यह जरूर एक सच्चाई है कि किसी भी भाषा का अच्छा ज्ञान अपनी मातृभाषा के लेखन में काफी योगदान करता है। क्योंकि किसी भी 'एलियन' या अनजान भाषा का ज्ञान आदमी को अतिरिक्त रूप से सजग बनाता है जिसका फायदा अपनी भाषा में लिखते हुए भरपूर मिलता है। यह अतिरिक्त सजगता लेखक को अपनी भाषा में लिखते समय एक-एक पूर्ण विराम, अर्द्धविराम, अल्प विराम आदि सभी व्याकरणीय और भाषाई मान्यताओं-सिद्धांतों के प्रति अतिरिक्त रूप से सजग रखती है। सवाल उठ खड़ा होता है कि क्या यही कारण है कि अंग्रेजी जानने वालों ने अपनी भाषाओं में महत्वपूर्ण काम किया है और इसी से चस्पान सच्चाई यह भी है कि मातृभाषा में ही दूसरी भाषा से संबंधित काम भी बहुत ही उम्दा हुआ है? सच्चाई दोनों है और दोनों के उदाहरण भी दुनिया भर में भरपूर हैं। हिंदी में डॉ. नगेन्द्र, अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही, रामविलास शर्मा, निर्मल वर्मा आदि इस तथ्य के ऐतिहासिक उदाहरण अशोक वाजपेयी और प्रो. वैद के साथ माने जा सकते हैं। लेकिन साहित्य के इतिहास का एक और अमर उदाहरण भी मेरे मन में इस समय आ रहा है..।

अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी और अध्येता इस तथ्य से परिचित हैं कि लूइस और कजामिया नाम के दो फ्रेंच लेखकों द्वारा लिखा गया अंग्रेजी साहित्य का इतिहास 'द हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लिटरेचर' जो १९२५-२६ में पहली

बार छपा, - इन लेखकों द्वारा संयुक्त रूप से मूलतः फ्रेंच में लिखा गया था; यानि अंग्रेजी साहित्य, यानि एक 'एलियन' भाषा का इतिहास अपनी मातृभाषा में लिखा जाकर विश्वप्रसिद्ध हुआ। इसका अर्थ यह कि प्रतिभा, ज्ञान को अपने वश में कर लेती है। यह किताब इन दोनों प्रतिभाशाली लेखकों ने पेरिस विश्वविद्यालय के बी.ए. के विद्यार्थियों को अंग्रेजी साहित्य से परिचित कराने के लिए लिखा था और किताब अंग्रेजी में अनुदित होकर आज लगभग एक सौ वर्षों बाद भी अपने विषय की सबसे प्रामाणिक किताब है। अब इसके ताजा संस्करण में डॉ. बी.राजन जैसे भारतीय लेखक भी शामिल कर लिये गए हैं जो कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में पीएच.डी. करने वाले पहले भारतीय थे। दूसरे थे डॉ. हरिवंश राय बच्चन जिन्होंने जीवन भर हिंदी में लिखा और कई लकीरें खींचीं! खैर।

साहित्य की जिस संस्कृति की बात मैं ऊपर कर चुका हूँ प्रो. वैद उसके अकाट्य उदाहरण हैं। वे इस अर्थ में बच्चन की तरह ही एक प्रतीक पुरुष हैं कि अपनी मातृभाषा का लेखन ही अन्ततोगत्वा लेखक की अपनी संपत्ति है। इसी से सटी हुई एक और वैकल्पिक सच्चाई यह है कि जो भारतीय मूल के लोग अंग्रेजी में लेखन करते हैं उनमें से कोई भी इस देश में नहीं रहता। कोई न्यूयार्क में है तो कोई लंदन में तो कोई वाशिंगटन में। इस तथ्य से सटी हुई सच्चाई यह भी है कि जिस भाषा में आप लेखन कर रहे हैं, उस संस्कृति के बीच रहकर ही आप उस भाषा की आत्मा को समझ सकते हैं। यही वजह है कि अमिताभ घोष, सलमान रशदी या और कई लोग भारत में नहीं रहते। और तो और भारतीय मूल के शुरुआती तीन चर्चित लेखकों- राजा राव, मुल्कराज आनंद और आर.के. नारायण में से दो राव और आनंद क्रमशः अमरीका और इंग्लैंड में ही ज्यादा रहे। इस संदर्भ में आर के नारायण ही 'भारतीय अंग्रेजी' के मौलिक लेखक वी एस नॉयपाल के द्वारा इसलिए भी माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने उस समाज की कथा, यानि लगभग हाशिए के समाज के लोगों की कहानियाँ, - अंग्रेजी में लिखीं जो एक लेखक के लिए चुनौती भी था, और लगभग-असंभव भी था। वह

समाप्य यानि मिठाई बनाने वाले, बंदर नचाने वाले, टूरिस्ट गाइड आदि ऐसे लोग हैं जिनका दूर-दूर तक अंग्रेजी भाषा से कोई रिश्ता ही नहीं बनता। लेकिन नारायण इतने प्रतिभाशाली लेखक थे कि उन्होंने नायपॉल के शब्दों में ही इस समाज की 'ट्रान्सब्सटान्शिएट' (या transubstantiate) किया यानि इनके मूल को अंग्रेजी भाषा में अनूदित कर दिया। यह भी एक भगिनी सच्चाई है भाषा-ज्ञान की।

इन उदाहरणों को यहाँ रखने का उद्देश्य यह भी है कि प्रो. इन सभी सच्चाईयों के द्वैत के पार की भी एक किस्म की सच्चाईयाँ हैं और दोनों पर भारी पड़ती हैं। यह अनायास नहीं है कि प्रो. वैद के अप्रतिम मित्र और हिंदी गद्य के एक अद्भुत शिल्पी अंग्रेजी पढ़े-लिखे अशोक वाजपेयी उनके लेखन की भूरी-भूरी प्रशंसा करते रहे हैं। प्रो. वैद इस बात के भी प्रमाण हैं कि पंजाब की धरती ने हिंदी को पंडित सुदर्शन, यशपाल, अज्ञेय, कृष्णचंद्र, हर महिंदर सिंह वेदी, सत्यपाल सहगल, कुमार विकल आदि जो पुरोधा दिए हैं, वे उसी परंपरा के हिंदी वाहक हैं (पंजाब के हिंदी लेखन पर तो एक किताब ही हो सकती है); और इसीलिए 'प्रतिपक्ष' की जिस संस्कृति का उत्खनन उन्होंने अपने लेखन में किया है वह अभूतपूर्व है।

और ये प्रक्रिया लिखने के सिर्फ एक दिन पहले जिस प्रो. गिरिराज किशोर का कानपुर में निधन हुआ है; वे गाँधीवादी संस्कृति और तत्कालीन राजनीति और सामाजिकता के पुरोधा लेखक माने जाते हैं।

गाँधी के साथ २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यानि १९१७ में उनके चंपारण सत्याग्रह से जो राजनीतिक-संस्कृति इस देश में बननी शुरू हुई थी, उसे गिरिराज किशोर ने न सिर्फ 'पहला- गिरमिटिया' जैसे गाँधी केन्द्रित उपन्यास में लिखकर; बल्कि 'तीसरी सत्ता' जैसे राजनीतिक विमर्श के उपन्यास में भी चित्रित किया। यही नहीं, 'बा' नामक उनका २०१६ में छपा संभवतः अंतिम उपन्यास (इसे उन्होंने मुझे अपने हस्ताक्षर के साथ भेजा है) गाँधी जी की 'मानिनी' पत्नी कस्तूरबा गाँधी के माध्यम से एक नया विमर्श ही सामने

लाता है। यह आज के छिछोरे स्त्री विमर्श का एकदम उलट है। इसमें कस्तूरबा अलग तरह से चित्रित हुई हैं; हालांकि इसे कस्तूरबा की जीवनी की तरह भी पढ़ा जा सकता है।

'पहला गिरमिटिया' और 'बा'; ये दोनों किताबें संस्कृति के जिस रूप को हमारे सामने रखती हैं उससे माओ और संघ दोनों को समझने में मदद मिलती है। २१वीं शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध में २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के ये तीनों लोग हमें जगाते हुए आगाह करते हैं कि 'क्रिया-प्रतिक्रिया' का समय-खेल अगर ईमानदारी की उदात्तता से संचालित नहीं है तो साहित्य उसे सुधार करके समाज में पनपाई जाने वाली या पैदा की जाने वाली प्रति-संस्कृतियों को नष्ट करने की क्षमता इसलिए भी रखता है कि प्रेमचंद कह गए हैं कि साहित्य राजनीति के आगे-आगे चलने वाली 'मशाल' है और भर्तृहरि कह गए हैं:

बोद्धारौ मत्सरग्रस्ता, प्रभव समय दूषिताः

अबोधो बृहताश्चान्ये, जीर्णमंगे सुभाषितम्।

यानि 'बुद्धिजीवियों का हृदय ईर्ष्या से, प्रभु वर्ग का अभिमान से मलिन है। बाकी जन अज्ञान सो आहत हैं। इस तरह कवि या लेखक का अच्छा कथन उसके विषय हृदय में ही रह जाता है।'

मेरी इस टिप्पणी के श्रोत गिरिराज किशोर के ग्यारह उपन्यासों, प्रो. वैद के छह उपन्यासों और डॉ. विमल के पाँच उपन्यासों से खोजे गए हैं। मेरी कोशिश रही है कि इन लोगों के बारे में वह कहूँ जो मेरा एकदम अपना लगे। पाठकों ने इनकी किताबें तो पढ़ी ही हैं। फिर भी कुछ किताबों की चर्चा आवश्यक है। विमल जी के उपन्यास हैं: अपने से अलग, मृगांतक, कहीं कुछ अलग, मरीचिका, मानुषखोर आदि।

कृष्ण बलदेव वैद के जिन उपन्यासों को मैंने पढ़ा-गुना वे हैं: उसका बचपन, काला-कोलाज, मायालोक आदि।

प्रो. गिरिराज किशोर के जो उपन्यास मैंने देखे हैं, वे हैं: पहला गिरमिटिया, लोग, चिड़ियाघर, दो, इन्द्र सुनें, दावेदार, बा, यथा प्रस्तावित आदि।

संपर्क: महाबीर गेस्ट हाउस, ३१ ए, के.सी. दे रोड, दार्जिलिंग, सिलीगुड़ी, मो. ९७७५९३८२१४

रमणिका गुप्ता : स्त्री कविता का नया सौन्दर्यशास्त्र

सुनीता गुप्ता

हिंदी की स्त्री कविता में जनप्रतिबद्धता का अभाव रहा है। इसकी परिधि स्त्री और वह भी मध्यवर्गीय स्त्री तक केंद्रित रही है। जनपरिवेश की व्यापक भूमि पर उसके पांव नहीं पड़े हैं। रमणिका गुप्ता की कविताएं इस सीमा का अतिक्रमण करती हैं। रमणिका गुप्ता का व्यक्तित्व बहुआयामी रहा है जो एक साथ कई सीमाओं का स्पर्श करता है। सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता के साथ साहित्यिक सक्रियता उनके व्यक्तित्व के दो अविभाज्य पहलू हैं जो एक दूसरे को समृद्ध करते हैं। राजनीति संघर्ष और साहित्यिक लेखन- ये दोनों ही कार्य ऐसे हैं जो सम्पूर्ण निष्ठा की मांग करते हैं। इसलिए आम तौर पर संघर्ष से जुड़ा व्यक्ति लेखन के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं निकाल पाता और लेखन के लिए समर्पित व्यक्ति संघर्षों से क्रमशः दूर होता जाता है। रमणिका गुप्ता की पहचान जनांदोलनों से जुड़ी एक नेत्री के रूप में रही है। पर इसके समानान्तर वे लगातार लेखन में भी सक्रिय रहीं। उनकी सामाजिक राजनीतिक सक्रियता उनकी प्रतिबद्धता का परिचायक है तो उनका लेखन उनकी संवेदनशीलता का जो जनांदोलनों से जुड़ाव के उत्स का पता देता है। इसप्रकार उनका लेखन उनकी प्रतिबद्ध जीवन दृष्टि से जुड़कर समृद्ध होता रहा है। रमणिका गुप्ता के संबंध में यह निर्णय करना कठिन है कि वे राजनीति की हैं या साहित्य की। पर यह जरूर कहा जा सकता है कि उनके लेखन को उनके सामाजिक राजनीतिक संघर्ष के आलोक में ही समझा जा सकता है।

रमणिका गुप्ता ने गद्य और पद्य दोनों में पर्याप्त मात्रा में लिखा है। उनके द्वारा रचित काव्य संग्रहों की संख्या सोलह के लगभग है। 'प्रकृति युद्धरत है' (सन् १९८०), 'विज्ञापन बनता कवि' (सन् १९९६), दलितों से संबंधित कविताओं का संग्रह 'अब मूरख नहीं बनेंगे' (सन् १९९७), 'तुम कौन' (सन् १९९९), 'तिल तिल नूतन' (सन् १९९९), 'भीड़ सतर में चलने लगी है' (सन् २००२) आदि इनके कविता संग्रह हैं। सन् २००८ में इनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन मदन कश्यप के संपादन में प्रकाशित हुआ। मदन कश्यप इन्हें कबीर की परम्परा का मानते हुए इनकी कविताओं पर टिप्पणी करते हैं - 'इनका कलात्मक मूल्य चाहे जो हो, लेकिन एक गहरा सामाजिक मूल्य तो है ही। रमणिका गुप्ता के लिए कविता उनकी लड़ाई का हिस्सा है, एक हथियार है, मन को मजबूती देने वाला हथियार।'

रमणिका जी के व्यक्तित्व की तरह उनकी कविताएं भी बहुआयामी हैं। उनकी कविताओं का फलक अत्यंत विस्तृत है। उनकी कविता की परिधि का विस्तार व्यक्ति मन और लोक जीवन से होता हुआ प्रकृति और वैश्विक परिदृश्यों को भी समेटता है। प्रेम के नितांत व्यक्तिपरक गीतों के साथ ही वे प्रकृति में भी

प्रसरित होती हैं। अपनी कविताओं में एक तरफ वे आम लोगों के साथ उपस्थित होती हैं तो दूसरी तरफ विदेश यात्राओं के वृत्त भी ले आती हैं। उनकी संवेदना के आवृत्त में समसामयिक संदर्भों के साथ मिथक के संदर्भ भी आते हैं। जनांदोलनों के प्रति उनकी निष्ठा सभ्यता, संस्कृति इतिहास और मिथक से छन कर आयी है। इसलिए उनमें आत्मविश्वास की दीप्ति है जो उनके प्रतिरोध की चेतना को पुख्ता आधार देती है।

रमणिका गुप्ता की अधिकांश कविताओं की मूल भावभूमि आदिवासियों और ग्रामीण जीवन की वह धरती है जहां उन्होंने उनके अधिकारों के लिए संघर्ष किया था। इनमें सीधे उन स्थलों और घटनाओं से संबंधित प्रसंग हैं। लोकजीवन के अनुभवों में पगी उनकी इस प्रकार की कविताएं धारदार भी हैं और संवेदनासिक्त भी। ये इतनी परिपूर्ण हैं कि अपनी संरचना के लिए किसी विशिष्ट शिल्प की मांग नहीं करतीं। इनकी सहजता ही इनका शिल्प गढ़ती है। वस्तुतः रमणिका गुप्ता की कविताओं का सौन्दर्य संघर्ष का सौन्दर्य है। जितना मुखर रमणिका जी का संघर्ष रहा है, उतनी ही समृद्ध उनकी ये कविताएं हैं।

अपनी कविताओं में रमणिका जी सदैव वंचितों के साथ हैं। सौन्दर्य के पारम्परिक मानक को ध्वस्त करती उनकी कविता साधारण जन के पक्ष में जा खड़ी होती हैं। ‘मुझे तुम्हारे कालेपन पर प्यार आता है’ जैसी कविताएं इसका उदाहरण हैं –

‘लेकिन इन हाथों ने जब से/ मिट्टी को लेकर/मुट्टी बांधी है/हर अन्याय पर चोट करने की/कसम खा ली है/वर्ण के विष को नकार /मिट्टी को मोती की/पसीने को रक्त की/प्रतिष्ठा देने की ठानी है/तबसे, हां हां तब से /इस मुट्टी की जकड़ से /देह में झुरझुरी पैदा हो जाती है!/ मुझे तुम्हारी इस कसक पर प्यार आता है”

अपनी कविताओं में वे अन्याय के प्रतिकार को शब्द देती हैं। आदिवासी जीवन में आये बदलाव को वे वाणी देती हैं –

“अब वे बोलने लगे हैं/ भूख को भोजन/प्यास को पानी/मार का लाठी कहना सीख गये हैं/अब वे सुनने

लगे हैं/सड़क के नीचे बहती/अपनी नदी की कल कल छल छल/वे सोचने लगे हैं/इसलिए/ जड़ों की तलाश में लौटने लगे हैं।”

रमणिका गुप्ता ने आदिवासी जीवन को अत्यंत निकट से देखा था। वे आदिवासी जीवन की समस्याओं और उनके आक्रोश की गवाह रही हैं –

“जब बोल नहीं पाता आदिवासी/जब शब्द हो जाते हैं गूंगे/जुबान हो जाती जड़/तो उसका गुस्सा/जुबान पे नहीं/हाथों में उतर आता है/हाथ/ थाम लेते हैं तीर”

इसलिए वे व्यवस्था परिवर्तन की आवाज उठाती हैं –

“जब तक मुट्टी की तरह तना सूरज/ धरती की बांहों में नहीं उगेगा/तब तक समय क्रांति के बीज नहीं उगाएगा ... जब तक घूंसे की तरह तना सूरज/क्षितिज के शीशे नहीं तोड़ेगा/तबतक हवा का रूख नहीं बदलेगा/धरती का मुख नहीं निखरेगा”

सौन्दर्य के पारंपरिक मानदंडों को ध्वस्त करतीं वे प्रभात को नये ढंग से परिभाषित करती हैं और सूरज का नया रूपक गढ़ती हैं –

“सूरज को बनने दो एक तमाचा/जो धरती के व्यवस्था परक चेहरे पर लगे और/बिगाड़ दे उसका परंपरागत रूप!”

रमणिका गुप्ता की जन प्रतिबद्धता रामायण के प्रतिपक्ष में एक नया रामायण रचती हैं – ‘मजदूरायण’। मजदूरी कर अपना पेट भरने वाला रथुराम ‘रोजगार की स्याही से’, ‘कागद की रोटी’ पर अपनी रामायण लिखना चाहता है। ये वे लोग हैं जिनका ‘मजहब पसीना है और मेहनत है इनकी रामायण’, इसलिए ये अपने बेलचे, कुदाल, गैंची और फावड़ा को पकड़े हुए हैं। जरूरी है कि इन्हें रामायण सुनाने की जगह शब्दों से परिचित कराया जाए ताकि वे रामायण को पढ़ सकें और उसके आखर बदल सकें – “मोर जबान पर रामायण के आखर लिख दो/ओ रामायण-वाचक/ओ पढ़े लिखे लोगों/मैं रामायण खुद पढ़ लूंगा/शम्बूक के हत्यारे को चीन्ह लूंगा”

कवयित्री वक्त की साजिशों को समझती हैं। यही कारण है कि वे हर उस परम्परा का विरोध करती हैं

जिसने कुछ लोगों के हिस्से की धरते छीन ली है। वे धर्म और मिथक की प्रचलित धारणा का खंडन करती हैं। महाभारत और गीता का नया पाठ रचती हैं और मनु, अभिमन्यु की परम्परा से परे शम्बूक और एकलव्य जैसे लोगों का नया इतिहास रचती हैं। वे गीता को 'वंचितों के लिए भद्दा सा मजाक' मानती हैं जो निष्काम कर्म की भव्य धारणाओं की ओट में धैर्य और संतोष का पाठ पढ़ा भाग्यवादी और अकर्मण्य बनाता रहा है। कवयित्री ध्वंस का आह्वान करती हैं- "आज कह दो हवा से/कि उस्तरे सी खरोंचती चली जाय . . . कह दो उसे अपनी रगड़ से लगा दे समुद्र में आग/ताकि जो भी पुराना है जल जाए/फूंक दे शंख नये युग का/जिससे पानी में कमल नहीं, उग आयें कैक्टस/और कैक्टस में खिल आएँ फूल!"

लोकजीवन से जुड़ी इन कविताओं में रमणिकाजी की काव्य कला का चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। यहां वे शिल्पगत प्रयोग करती हैं और जब लोकशब्दावली का उपयोग करती हैं तो इन कविताओं में लोकगीतों का माधुर्य छलक पड़ता है। इन गीतों में आम स्त्री के मन के राग को छुआ जा सकता है। रांची के कोयले के पहाड़ का सौन्दर्य को रूपायित करती ये पंक्तियां उदाहरण के तौर पर देखी जा सकती हैं जो रीतिकाल की प्रकृति चित्रण की परिपाटी के निकट आ खड़ी होती हैं-

"ए करिया पहाड़/रतिया में/पियर-पियर इंजोरिया के/गायत-देह-से साट/चूम चूम/तारंगन - तारे-के उकसाय देलेय है"

विरह दग्ध अभिजातवर्गीय नायिकाओं के चित्रण से तो रीतिकालीन कविताएं अंटी पड़ी हैं, किंतु यह रमणिका गुप्ता हैं जो उन नायिकाओं के विरह को शब्द देती हैं जिनके दर्द की ओर देखने का अवकाश किसी को नहीं रही- "ई इंजोरिया/ई करिया पहाड़/मोर जिया में कोय/ 'हैम्मर' मार देवे है/और मोर हथवा के हैम्मर' /तोर याद में/जोर जोर पत्थड़/तोड़े लग जावे है"

प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाली स्त्री का विरह प्रकृति के उपकरणों के साथ कैसे उद्दीप्त होता है, इसे रमणिका

गुप्ता की इसप्रकार की कविता में देखना एक अनुभव है। काव्य रीति के पारम्परिक स्वरूप के निकट होती हुई भी ऐसी कविताएं अपने प्रामाणिक जीवनानुभवों के कारण कितनी जीवंत हो उठी हैं- "पेकची के पत्ते सा/डोले है सागर/मन मोरा घुरी-घुरी/होले है पागल/पकल महुआ की /गंध है 'मता' रही/मोर बगिया की याद मोरे आ रही/मोर 'सहिया' की याद मोहे आ रही"

"महुआ कोताय गेलय/हवा झुमाय गेलय/हमरो मन/बौराय गेलय/हमरो 'गायत'/खटैत खटैत/सुखाय गेलय/पन तू अब हो घर नाय एलेय है!"

पेट के लिए परदेश गये पति की प्रतीक्षा में राह तकती ग्रामीण स्त्री के विरह का एक रूप यह भी है- "ईंटू भट्टा सिराय गेलय/ई बच्छर भी खेत बिन जोते/बिलाय गेलय/ 'कजली' के भैंस बियया गेलय/ 'मंगरी' के गाय गाभिन हो गेलय/ 'सुकरी' के बकरी/बिकाय गेलय/हमर दूध/सुखाय गेलय/बचवा बड़ हो गेलय/बाबा कह के हकावो है/पन तू घर नाय एलेय है!"

रमणिका गुप्ता ने प्रकृतिपरक कविताएं भी पर्याप्त मात्रा में रची हैं। इनमें से कुछ तो ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध हैं और कुछ उनकी देशी विदेशी यात्राओं से सम्बद्ध। प्रकृति परक कविताओं में ग्रामीण जीवन से जुड़े बिम्ब अनुपम बन पड़े हैं- "पहाड़ों ने/कंधे पर बादलों को/ऐसे चढा लिया/ ज्यों गोरे-चिट्टे बच्चे को मां ने/कंधों पर बैठा लिया।"

कुछ और चित्र दर्शनीय हैं -

"फींच रही बेर बेर/लहरों की चदरिया/ बालू के पाटों पे/सागर धोबनिया/झागों की चूनर/उड़ी जा रही/घाट पोखर की याद है सता रही।"

रमणिका गुप्ता के बिम्ब जीवन से लिये गये हैं और इनका महत्व इस रूप में है कि वे अपने परिवेश को रूपायित करते हैं। रमणिका गुप्ता की एक कविता है जिसे निराला की कविता के पार्श्व में खड़ा कर रोचक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं- "पात को झिझोरकर/डाल को मरोड़कर/इस तरु को तोड़ कर, उस तरु को छोड़कर/ हाय! बह गई बयार।"

लोकजीवन और प्रकृति के साथ खड़ी रमणिका गुप्ता का एक रूप वह भी है जहां वे अपने अंतर्मन के निजी कोने में उतरती हैं और प्रेम के गीत रचती हैं। रमणिका जी का निर्बंध व्यक्तित्व उनकी कविताओं में भी खुलापन लाता है। उनका प्रेम का विस्तार पहाड़, समुद्र और दिशाओं तक है, वह न तो स्वयं बंधता है और न बांधता है—

“किसे दूँ आवाज/कि मेरे साथ बहे/हवाओं—सा/कि मेरे साथ चले/राहों—सा/और डट कर खड़ा हो जाय/मेरे साथ पहाड़ों सा”

प्रेम उनमें सामर्थ्य का वह उजास भरता है जिसके बल पर वे हर असंभव को संभव करती हुई दुनिया का नक्शा बदलने को प्रस्तुत हो जाती हैं— यह वह प्रेम है जो उनके व्यक्तित्व को बांधता नहीं, विस्तारित करता है —

“तुम साथ देते तो मैं /सात समुन्दरों का पीने की ललक/अगस्त्य मुनि से /छीन लाती . . . तुम साथ देते तो मैं/ सात समुंदरों को पीने की ललक/अगस्त्य मुनि से/ छीन लाती.. तुम साथ देते तो मैं/ महाभिनिष्क्रमण पर निकले/गौतम को/लौटा लाती।”

चाहे प्रेम हो या प्रकृति या लोकसंवेदना, रमणिका गुप्ता की कविताओं में अपरिमित साहस और उत्कट जीजिविषा देखी जा सकती है। उम्मीद से भरी वे हर पराजय को अपने पक्ष में करने का साहस रखती हैं —

“रात की स्याही लेकर मैं/सुबह का गीत लिख लेती हूँ/तारों की कणियां लेकर /सुबह की रोशनी रच लेती हूँ/

टेसू की चिंगारी से जला देती हूँ/अंधेरे के जंगल . . . पर हारती नहीं हूँ/न हारुंगी मैं/हारना मेरी नियति नहीं।”

रमणिका गुप्ता ने स्त्री को लेकर भी कविताएं लिखी हैं। स्त्रीजनोचित दैन्य से परे तेज और साहस से भरी उनकी इसप्रकार की कविताओं का स्वर स्त्री विमर्श की प्रचलित परिपाटी से अलग है। वे स्त्री के उन संस्कारों का प्रतिवाद करती हैं जिनमें बंधी स्त्री स्वयं अपनी गुलामी की कहानी रचती है— “मैं ही उसे राजा बनाती हूँ/और बनती हूँ उसकी रानी/यहीं से शुरू होती है/मेरी गुलामी की दास्तान।”

यहां भी वे प्रतिरोध के स्वर के साथ उपस्थित होती हुई स्त्री नियति को बदल देने की उद्घोषणा करती हैं। इस क्रम में वे समूची मिथकीय संरचना को स्त्री के पक्ष में पलट कर उसे नया अर्थ देती हैं। ऐसी कविताएं कई बार फार्मूलों में बदल गयी हैं और कई बार नारों का प्रभाव पैदा करती हैं, पर कई स्थलों पर उनकी आत्मविश्वास युक्त स्वर स्त्री स्वर को मजबूती प्रदान करता है— “तुम मुझे काट सकते हो/कर सकते हो दो फांक/मगर छीन नहीं सकते/मुझसे/मेरी दिशाएं/मेरा उत्तर—दक्खिन, पूरब—पश्चिम।”

निष्कर्षतः अपने होने का एलान करती ये कविताएं स्वयं रमणिका गुप्ता के व्यक्तित्व का पर्याय बन जाती हैं—

“मैं हूँ/एक सार्थकता/राजनैतिक चेतना/आर्थिक आवश्यकता/बौद्धिक जरूरत/सामाजिक अनिवार्यता/सांस्कृतिक प्रतिबद्धता/और हूँ— अर्द्ध—नारीश्वर का शिव।”

संपर्क:

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, एल. एन. कॉलेज, भगवानपुर, वैशाली
बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार), मो. ९४७३२४२९९९

हिंदी उपन्यासों में नारी-विमर्श: 'अर्द्धनारीश्वर' का विशेष संदर्भ रामनिहाल गुंजन

पिछले दिनों नारी-विमर्श को लेकर चर्चा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में काफी हुई। यह देखकर आश्चर्य नहीं हुआ, कारण कि नारी-विमर्श को जिस रूप में महत्व प्रेमचंद, प्रसाद और निराला जैसे लेखकों की औपन्यासिक कृतियों- 'सेवासदन', 'तितली' तथा 'अलका' में मिला और जिनकी चर्चा भी उस दिन खूब हुई, उससे यह बात स्पष्ट हो गई कि हिंदी में नारी पात्रों को महत्व पहले से दिया जाता रहा है। प्रेमचंद और निराला के नारी-पात्रों की चर्चा रामविलास शर्मा ने उन पर लिखी पुस्तकों- 'प्रेमचंद और उनका युग' तथा 'निराला की साहित्य साधना' में विस्तार से की है। उन्होंने प्रसाद की 'तितली' जैसे उपन्यास का जिक्र करते हुए मुख्य नारी-पात्र तितली की अग्रगामी भूमिका की ओर संकेत करते हुए लिखा है- "तितली पूंजीवादी भूमि-सुधारों में विश्वास नहीं करती। वह नहीं भूल पाती कि जमींदारों ने मेरे पुरखों की जमीन ले ली।" (तितली, पृ. २३९) गौर करने लायक तथ्य यह है कि उस श्रृंखला के अन्य कई उपन्यासों में भी नारी-विमर्श को महत्व मिला। इस प्रसंग में जैनेन्द्र के 'कल्याणी' (१९३२) और 'त्यागपत्र', केदारनाथ अग्रवाल के 'पपिया' (१९८५), नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' (१९९८) और 'उग्रतारा' (१९९३), नमिता सिंह के उपन्यास 'अपनी सलीबें' (१९९५) तथा मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'इदन्नमम' में नारी चरित्रों की भूमिका और उनके व्यापक नारी-समाज के पक्ष में व्यक्त विचारों को देखते हुए उन पर काफी कुछ लिखा गया है।

यों प्रेमचंद के नारी-पात्रों- सुखदा, मुन्नी और जालपा के चरित्र में जो प्रगतिशीलता और जुझारूपन दिखलाई पड़ता है, वह बाद के उपन्यासों के नारी-चरित्रों में कम ही दिखाई पड़ता है। बावजूद इसके जो भी परवर्ती औपन्यासिक नारी-चरित्र हैं, वे अपने-अपने ढंग से जीवन-संघर्ष की सूचना देती रही हैं। निराला के 'अलका' उपन्यास की नायिका एक संघर्षशील नारी है, जिसकी भूमिका किसान आंदोलन में भी किसी-न-किसी रूप में रही है। दूसरी ओर जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास 'कल्याणी' की नायिका यानी कल्याणी कहती है- "स्त्री पुरुष की संपत्ति नहीं है।... योग्य कन्याएं और स्त्रियां काफी संख्या में निराश्रित हैं और कुछ नहीं तो उन्हें साहस देना समर्थ पुरुषों का धर्म है।" (कल्याणी, पृ. १०७) 'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल भी संघर्ष करते हुए ऐसे समाज से अपने संबंध स्थापित कर लेती है, जो वंचित व्यक्तियों का है और जो अभिजातवर्गीय छल-छद्म से दूर है। दूसरी ओर केदारनाथ अग्रवाल के उपन्यास 'पपिया' की नायिका जब अपने पति से अलग होकर अपना जीवन निर्वाह करती है तो उसे अपेक्षाकृत ज्यादा शांति अनुभव होती है। लेखक के शब्दों में- "उसे अपने हाथ-पैरों पर भरोसा था और वह जानती थी कि जहाँ भी वह रहेगी, अपने लिए दो जून की रोटियाँ वह पा ही लेगी।" (पपिया, पृ. ९०) यों नागार्जुन के उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' की नायिका गौरी की जहाँ तक बात है वह कई नारी चरित्रों से भिन्न होने के कारण एक प्रमुख औपन्यासिक नारी-पात्र के रूप में सामने आती है जो उपन्यास के नये कथा-पात्र, ताराचरण के संपर्क में आकर देश और समाज की वास्तविकता को समझने लगती

है तथा यह भी जान जाती है कि 'गरीबों के स्वराज' और 'धनिकों के स्वराज' में क्या फर्क है। किसान सभा के नाम पर जब-तब चंदा भी देती है। इसी प्रकार नागार्जुन के उपन्यास 'उग्रतारा' की नायिका संघर्षशील और उग्र विचारों की महिला है, जो पुरुष सत्ता को धता बतलाती है। दूसरी ओर नमिता सिंह के उपन्यास 'अपने सलीबें' के नारी-पात्रों की ओर से भी पुरुष-सत्ता को चुनौती दी जाती है। उपन्यास की नायिका नीलिमा एक कॉलेज में प्राध्यापिका है। वह स्वतंत्र विचारों की महिला है। वह सोचती है कि 'मध्यवर्गीय समाज में गैर-शादीशुदा या तलाकशुदा अलग रहने वाली औरतों के बारे में खास तौर पर अगर वह जवान भी है तो उसके लिए किसी भी तरह की बात कहना संभवतः हमारे लोकतांत्रिक अधिकारों में है और इस अधिकार का इस्तेमाल करने से किसी को रोका नहीं जा सकता है।' (अपनी सलीबें, पृ. १०) दूसरे, वह अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों से भी मुक्त है। उपन्यास का नायक ईशु एक ईमानदार और सख्त अफसर (कलक्टर) है जो बनारस के उन अफीम तस्करों के गिरोह के खिलाफ कदम उठाता है, जो शहर में जब-तब सांप्रदायिक दंगे भी कराते हैं। नतीजन उसे उनके द्वारा गोली मार दी जाती है पर अंततः वह बच जाता है। उसके लिए प्रार्थना भी की गई, हालांकि नीलिमा को इसमें विश्वास नहीं है। वह सोचती है कि "अगर सिर्फ प्रार्थनाओं से, इच्छा और आकांक्षाओं से ही मनचाहा मिल जाता तो हर व्यक्ति के पास खूबसूरत खुशनुमा दुनिया होती।" (उप. पृ. २२७) इसी प्रकार मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'इदन्नमम' की नायिका भी संघर्ष करती है और पुरुषों के समक्ष खड़ी होकर अपनी अस्मिता और नारी-मर्यादा दोनों की अलग पहचान कायम करने की दिशा में सक्रिय दिखाई पड़ती है।

उल्लेखनीय है कि हिंदी उपन्यासों में जहाँ नारी-विमर्श को महत्व दिया जाता है, उपन्यासकारों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वे नारी को अपनी अस्मिता और मर्यादा की रक्षा के लिए संघर्ष करते हुए दिखलाए न

कि आत्महत्या करते। अतः प्रगतिशील और जनवादी उपन्यासकार अपने नारी-पात्रों को मजबूती के साथ अपने पर होने वाले जुल्मों और शोषण का विरोध करते हुए चित्रित करना ज्यादा उपयुक्त समझते हैं। उनकी मृत्यु या आत्महत्या दिखलाना तो वैसे भी यथास्थिति का सूचक होता है। इस प्रसंग में हावर्ड फास्ट ने लिखा है- "मनुष्य पहले आया और उसके अस्तित्व के संघर्षों, जीवन के संघर्षों से ही संस्कृति और अन्य चीजों की रचना हुई। ...प्रतिरोध की नैतिकता ही आज के समाज की वास्तविक नैतिकता है, जो मानव की मुक्ति के संघर्ष को आगे बढ़ाती है। मुक्ति के संघर्ष में मारा जाने वाला आदमी मरता नहीं है। इसी गहरी समझ से मनुष्य में साहस पैदा होता है।" (साहित्य और यथार्थ, पृ. ८४-८५) वास्तव में इन मुक्ति-संघर्षों में, जो समाज, देश और पूरी दुनिया में चलते रहते हैं, उनसे प्रगतिशील लेखकों के जो कथा-पात्र हैं, चाहे वो पुरुष हों या स्त्री, किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रभावित होते हैं और वे भी अपने-अपने ढंग से उसमें शरीक होते हैं। वैसे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वे पात्र सीधे-सीधे उस संघर्ष में शरीक नहीं हो पाने के बावजूद कम-से-कम विचारों की लड़ाई में तो वे शामिल होते ही हैं और इस प्रकार उनकी संघर्षगाथा प्रगतिशील साहित्य-रचना का आधार बनती है। प्रेमचंद के अंतिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' की नायिका पुष्पा वैसी नारी-पात्र है, जो नारी के अधिकारों को बखूबी जानती है। वह अपने पति संतकुमार से कहती है- "अगर स्त्री ने पुरुष की रक्षा न की होती तो आज दुनिया वीरान हो गई होती। उसका सारा जीवन तप और साधना का जीवन है। फिर तो न कहोगे कि स्त्री पुरुष की मुँहताज है, इसलिए उसे पुरुष की गुलामी करनी चाहिए। ...मरदों ने स्त्रियों के लिए कोई आश्रय छोड़ा ही नहीं। पातिव्रत्य उसके अंदर इतना कूट-कूट कर भरा गया है कि अब उसका व्यक्तित्व रहा ही नहीं। वह केवल पुरुष (पति) के आधार पर जी सकती है। उसका स्वतंत्र कोई अस्तित्व ही नहीं। बिन ब्याह पुरुष चैन से खाता है, विहार करता है और मूछों पर ताव देता

है। बिन ब्याही स्त्री रोती है, कलपती है और अपने को संसार का सबसे अभागा प्राणी समझती है। यह सारा मरदों का अपराध है।” (मंगलसूत्र, पृ. ३९) सच पूछे तो प्रेमचंद के इस उपन्यास में नारी-जागरण को ज्यादा महत्व देने का प्रयत्न किया है, जो नारी-विमर्श को ही आगे बढ़ाता है। यों उपर्युक्त सभी उपन्यासों में चित्रित नारी कथा-पात्रों को इसी वैचारिक संघर्ष में शरीक होकर अपने-अपने हिस्से की लड़ाई लड़ते हुए दिखलाया गया है। उसी शृंखला में आगे के उपन्यास में भी नारी-विमर्श को महत्व मिला। इसी सिलसिले में विष्णु प्रभाकर के उपन्यास ‘अर्द्धनारीश्वर’ की चर्चा यहाँ अभीष्ट है।

उल्लेखनीय है कि ‘अर्द्धनारीश्वर’ के लेखक विष्णु प्रभाकर (१९१२-२००९) हिंदी के यशस्वी कथाकार और जीवनी-लेखक तथा उपन्यासकार रहे हैं। उनके द्वारा लिखी पुस्तक ‘आवारा मसीहा’ बंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के जीवन और कृतित्व पर आधारित है। इस पुस्तक में शरत के नारी-पात्रों के विवेचन के जरिए विष्णु प्रभाकर ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि शरत के नारी-पात्र बंगाली समाज में आज भी समादृत है। यों विष्णु प्रभाकर ने एक गाँधीवादी लेखक और चिंतक की हैसियत से भी अपनी रचनाओं में नारी-समाज को प्रमुखता देते हुए ‘अर्द्धनारीश्वर’ जैसे उपन्यास की रचना की। वे यथार्थवादी कहानियाँ और उपन्यास लिखने के पक्षधर थे, ‘अर्द्धनारीश्वर’ उपन्यास से गुजरते हुए इसका सहज ही अहसास किया जा सकता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह एक महत्वपूर्ण उपन्यास है, जिसकी मूल समस्या नारी के अस्तित्व और मर्यादा की रक्षा है। दरअसल नारी विषयक प्रश्नों को लेकर पहले और बाद में जो उपन्यास लिखे गये उनका रचना अभिप्राय प्रायः यही रहा है। लेकिन जिस समाज में नारी को भोग की वस्तु माना जाता रहा है, इसमें नारी-मर्यादा और अस्तित्व रक्षा का प्रश्न गौण होता जा रहा है, जो चिंता का विषय है। आज इसे गंभीरता से लिया जाने लगा है और बलात्कार की घटनाओं को रोकने के लिए कानून

भी बनाए जा रहे हैं, फिर भी इसे पूरी तरह नियंत्रण कर पाने में सरकार भी अक्षम सिद्ध हो रही है। इस प्रसंग में विष्णु प्रभाकर के उपन्यास ‘अर्द्धनारीश्वर’ का उल्लेख एक जरूरी हस्तक्षेप के रूप में किया जा सकता है। इस उपन्यास की रचना के समय विष्णु जी के समक्ष शरत के उपन्यासों के सशक्त नारी-चरित्रों का उदाहरण मौजूद था। जिस प्रकार शरतचंद्र अपने नारी-पात्रों को पुरुषों के समकक्ष खड़ा करते रहे थे, उसी प्रकार उन्होंने भी अपने उपन्यास के नारी-पात्रों को सशक्त बनाने का प्रयास किया। चूँकि वे अपने नारी-पात्रों को किसी प्रकार पुरुष चरित्रों से कमतर नहीं मानते थे, यही कारण है कि उनकी ‘धरती अब भी घूम रही है’, ‘सुराज’, ‘कितने जेबकतरे’, ‘जिंदगी: एक रिहर्सल’ आदि कहानियों में नारी-पात्रों के प्रति उनकी पक्षधरता साफ तौर पर देखी जा सकती है। कहना न होगा कि अपने सामाजिक चिंतन के क्रम में जिन समस्याओं को लेकर अपने उपन्यास ‘अर्द्धनारीश्वर’ की उन्होंने रचना की है, उनका सरोकार प्रायः समाज में नारी-शोषण और उत्पीड़न तथा मानव-मूल्यों के ह्रास से है। इसके पीछे उनका मुख्य रूप से यह दृष्टिकोण रहा है कि नारी-शोषण और उत्पीड़न ने संवेदनशील नारी-वर्ग को इसके बरअक्स ज्यादा सजग और सचेत बना दिया है। वह अब इसे किसी भी कीमत पर सहने का तैयार नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पुरुष-प्रधान समाज में नारियों का दैहिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण आरंभ से ही किया जाता रहा है और जो सामंती मनोवृत्ति और प्रवृत्ति का आवश्यक अंग बन गया है, जिसके अवशेष आज भी किसी-न-किसी रूप में मौजूद हैं। लिहाजा शादी के बाद दहेज लोलुप व्यक्तियों द्वारा चाहे बंधुओं के जलाए जाने का प्रसंग हो अथवा उनके साथ किए जाने वाले बलात्कार और हत्या की घटनाएँ हों, इस बात के प्रमाण है कि आज भी तथाकथित पुरुष-वर्ग अथवा उपभोक्तावादी समाज की दृष्टि में नारी उपभोग्या से अधिक कुछ भी नहीं है। इन्हीं प्रसंगों को ध्यान में रखकर लिखे गए उपन्यास ‘अर्द्धनारीश्वर’ पर विचार करना जरूरी है।

‘अर्द्धनारीश्वर’ उपन्यास तीन खंडों- ‘व्यक्ति-मन’, ‘समाज-मन’ और ‘अन्तर्मन’- में विभाजित हैं। इसके जरिये उपन्यासकार ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि व्यक्ति, समाज और स्वयं के अन्तर्मन में निजी पीड़ा, निजी सीमाओं और निजी संबंधों और व्यवहारों को लेकर अलग-अलग कैसी प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इस सिलसिले में सुमिता, विभा, किरण, शहिदा, श्यामला, वर्तिका आदि नारी-पात्रों तथा अजीत, विजय, महेन्द्र, शिवनाथ, अनीस जैसे पुरुष चरित्रों की मानसिक संरचना, सोच और चिंतन की परिणतियों को अलग-अलग दिखाते हुए उनमें एक बिंदु पर सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की गई है कि नारी पुरुष-वर्ग की दासता से मुक्ति अनिवार्य है। वैसे उपन्यास के प्रारंभ में सुमिता को बलात्कार का शिकार होते दिखाया गया है जो बहुत समय तक उस घटना के प्रभाव से मानसिक रूप से मुक्त नहीं हो पाती, हालाँकि वह जानती है कि उसका इसमें कोई दोष नहीं है। उसे खुद में स्थितियों का सामना करने के साहस की कमी का अहसास होता है, जिससे वह मुक्त होना चाहती है। वह साक्षात्कार लेने आई महिला पत्रकार से भी बातें साफ-साफ कह देती है, किंतु उस घटना के कारण वह पूरे पुरुष-वर्ग से ही नफरत करने लगती है तथा उसकी दासता से मुक्ति चाहती है। इसलिए वह अपने पति अजित की इस बात से आश्चर्य होती प्रतीत होती दिखाई पड़ती है कि व्यक्ति में क्षमता और साहस होगा तभी तो समाज शक्ति पा सकेगा।’ (पृ. १८) चूँकि अजित जानता है कि हमारे मन में आदिम युग से वासना की कुत्सित कामना छिपी रहती है, इसलिए उसे नकार न सकने के बावजूद हम ‘इच्छाओं की दासता’ और ‘निर्भरता की अनिवार्यता’ से मुक्ति की कामना करते हैं और यही मुक्ति का अहसास पुरुष और नारी को पारस्परिक निर्भरता की अनिवार्यता से मुक्त करता है।’ चूँकि पूरे उपन्यास में जिन स्थितियों-पात्रों की मानसिकता और उनके द्वंद्वत्मक चिंतन स्तर को अलग-अलग ढंग से विश्लेषण और व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है, इसलिए

उनकी संगति-असंगति को ध्यान में रखते हुए यदि देखा जाए तो कहा जा सकता है कि उपन्यास में एक सामान्य, किंतु मुख्य समस्या को लेकर विभिन्न स्थितियों और प्रसंगों की रचना की गई है, लेकिन जब सामान्य घटना और प्रसंग किसी काल-खंड विशेष में अनिवार्य और विचारणीय रूप ग्रहण कर लेते हैं तो उन्हें नज़रअंदाज करना मुश्किल हो जाता है। समाज में आए दिन घटने वाली इस प्रकार की घटनाएँ नारी-वर्ग को सोचने के लिए विवश करती हैं कि उसे अब पुरुष की दासता से मुक्त होने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। यों उपन्यास का शिल्प, भाषा और संवाद-योजना कथ्य के अनुकूल है। जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, वह परंपरित है। उपन्यास को तीन खंडों में विभाजित करने तथा अलग-अलग कथा-चरित्रों की जीवन-दृष्टि और चिंतन-प्रक्रिया को रेखांकित करने की पद्धति भी कोई नई नहीं है। अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि जैसे उपन्यासकार अपने कथा-पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण के सिलसिले में इस प्रकार का प्रयोग कर चुके हैं। इसलिए नवीनता के नाम पर ले-देकर उपन्यास में नारी-समस्या को लेकर की गई व्यापक चिंता है। हालाँकि जिस प्रकार की घटनाएँ और प्रसंग उपन्यास में चित्रित हैं उनसे एक गौरतलब बात उभरकर सामने आती है और वह यह कि लेखक कहीं-कहीं बलात्कार की घटना की चर्चा में ऐसी बातें भी अपने एक नारी-पात्र के मुँह से कहलवा देता है, जो नारी-मर्यादा के अनुकूल नहीं प्रतीत होती, जिसकी चर्चा करना यहाँ आवश्यक भी नहीं है। दूसरी ओर, जहाँ भाषा और संवाद का प्रश्न है, दो कथा-पात्रों के बीच के आपसी रिश्ते, उनके मानसिक रचाव, सोच और कथानक की संभावित दिशा को संकेतित करने की दृष्टि से भी इसका सार्थक प्रयोग हुआ है। यहाँ तक कि एक-दूसरे को लिखे पत्रों की भाषा, कहीं-कहीं काव्यात्मक हो गई है, जो उपन्यास की अन्तर्वस्तु को मार्मिक बनाने में सक्षम है। उदाहरण के लिए यह पत्र-संवाद देखें- “सुमि, मुझे कोई आपत्ति नहीं इस मुक्ति पर। वह कैसे संभव होगी, मैं अभी नहीं जानता। तुम

जानती हो। और सुमि, तुम मुक्ति पा सकी। बलात्कार के अध्ययन से या अभी भी साक्षात्कार करती रही हो सुभि! तुमने सब कुछ कहकर अंत में सदा की तरह वही लिखा है- तुम्हारी अपनी। स्वभाव की दासता है न यह!लेकिन आज तो मेरा मन भी तुम्हें यही विश्वास दिलाना चाहता है कि मैं हूँ- तुम्हारा अजित।” (अर्द्धनारीश्वर, पृ. १२५) उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष और नारी की पारस्परिक निर्भरता, मुक्ति की इच्छा के बावजूद कभी समाप्त होने वाली नहीं है और यही दाम्पत्य जीवन का वास्तविक मर्म भी है। उपन्यास का अंत भी उसी तथ्य की ओर संकेत करता है, जहाँ विभा का ‘अन्तर्मन’ एक प्रकार की ध्वनि से गुंजायमान होते हुए सबसे सुंदर दिखने वाले संसार में प्रवेश करता है, जहाँ द्वारपाल कहता है- ‘तुम हमारे संसार में प्रवेश नहीं पा सकती। उसने पूछा- ‘क्यों?’

‘क्योंकि तुम अपूर्ण हो।’

‘मैं अपूर्ण हूँ? विभा ने स्वयं को देखा, पूछा-

‘क्या अपूर्णता है मुझमें? कौन होता है पूर्ण?

उत्तर में द्वारपाल ने एक ओर इंगित किया-

‘देखो, वह है पूर्ण मानव।’

विभा ने देखा। हर्ष से चिल्ला उठी- ‘अरे ये तो हमारे ही भगवान अर्द्धनारीश्वर हैं।’ द्वारपाल हँसा-

‘तुम लोग हर किसी को भगवान बना देते हो और वह होने से बच जाते हो,

जो वास्तव में हो।’ (पृ. ४१९)

इस प्रकार उपन्यास में पुरुष और नारी की पारस्परिक निर्भरता की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए एक-दूसरे की दासता से उन्हें मुक्त होने की बात का मुख्य रूप से प्रतिपदन किया गया है, जो सहज, स्वाभाविक और समयानुकूल है। कहने की जरूरत नहीं कि विष्णु प्रभाकर ने इसके जरिये जो संदेश देना चाहा है, वह आज के प्रसंग में खास तौर पर भारतीय समाज और नारी-वर्ग की

आशा-आकांक्षा के अनुरूप है। उनके शब्द हैं- “मैं इस त्रासद संघर्ष और शोषण का द्रष्टा ही नहीं भोक्ता भी रहा हूँ। घृणा, विद्वेष, बलात्कार, हत्या और स्वाधीनता के लहलुहान प्रभात में कुछ भी असंभव नहीं रह गया था। धर्म की आड़ को लेकर जब मनुष्य सत्ता से खेल खेलने लगता है तो निरा पशु बन जाता है।” जाहिर है विष्णु प्रभाकर की ये बातें गौरतलब हैं हालांकि वे जैनेन्द्र के नारी-विमर्श को लेकर भी जब विचार व्यक्त कर रहे थे तब उनके सामने अपने उपन्यास ‘अर्द्धनारीश्वर’ के लिए यथार्थ जीवन की खोज का प्रश्न प्रमुख था। उन्होंने अपने लेख ‘खोज: जीवन के यथार्थ की’ में एक जगह लिखा था- “जैनेन्द्र जी मानते हैं कि नारी पुरुष से श्रेष्ठ है। उसे ही पैसे के मोह से मुक्ति पाना है। मुक्ति पायी नहीं कि पुरुष उसका मित्र बना। व्यापार का अर्थ है पैसा, पैसे का अर्थ है खरीद और फरोख्त। फिर तो स्पर्धा, संघर्ष, हिंसा वह सब कुछ है, जिससे आज जग पीड़ित है। नर के मन में नारी की चाह पाप नहीं है, दोनों में सहज आकर्षण है। यों विष्णु प्रभाकर ने अपने उपन्यास ‘अर्द्धनारीश्वर’ में जिन बातों को स्थापित करने का प्रयास किया है वे हैं- पुरुष, पैसा, बाजार, स्पर्धा और हिंसा का प्रतीक है और नारी प्यार, शक्ति, त्याग और घर की। लेकिन अपने आप में दोनों अधूरे हैं। नारी के गुणों के बिना पुरुष अधूरा ही नहीं असफल भी है। आज के संघर्ष के मूल में यही असफलता है। इससे मुक्ति पाने के लिए उसे नारी के गुणों को अपने में समाहित करना होगा।’ विष्णु प्रभाकर के उपन्यास-लेखन का यह उद्देश्य भी था। कहने की आवश्यकता नहीं कि नारी-विमर्श को लेकर लिखे गये उपर्युक्त सभी उपन्यास आज के प्रसंग में इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उनके जरिये स्त्री और पुरुष के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों को सुदृढ़ करने और उन्हें नये सिरे से स्थापित करने की दिशा में जरूरी पहल की जा सकेगी।

संपर्क: नया शीतल टोला, आरा-८०२३०१ (बिहार)

अखिलेश का समाजशास्त्र और 'निर्वासन'

डॉ. रीता सिन्हा

किसी भी साहित्य का समाजशास्त्र इस सच्चाई को सामने लाता है कि वर्तमान कभी अपने अतीत से कटा हुआ नहीं हो सकता और भविष्य की दिशा भी अतीत से होकर ही जाती है। मनुष्य का इतिहासबोध और संस्कृतिबोध वर्तमान में भविष्य की दिशा को प्रभावित करता है। राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल हो तो समाज परिवर्तित होता है और यह परिवर्तन अपने साथ संस्कृति को भी प्रभावित करने लगता है। उपन्यास अपने समय के यथार्थ को अपनी रचनात्मकता कलात्मकता के साथ व्यक्त करता है, जिसमें समाज की विभिन्न सांस्कृतिक विचारधाराएँ, धार्मिक विचारधाराएँ और आर्थिक व्यवस्थाएँ अपनी सक्रिय भूमिका निभाती हैं। नौवें दशक से भारतीय समाज में कई तरह के परिवर्तन हुए। सिमोन द बऊवार के साथ अन्य नारीवादी विचारकों ने भारत ही नहीं, बल्कि अन्य प्रगतिशील देशों के समाज को भी प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति में और भारतीय समाज में निहित “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः, नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल में/ पीयूष स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुंदर समतल में और अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी/ आँचल में है दूध और आँखों में पानी” जैसे समाजशास्त्रीय वैचारिकी पर प्रश्न उठने लगे, जिससे यहाँ के साहित्य का प्रेरित होना भी स्वाभाविक था।

उत्तराधुनिकता के कारण उपन्यासों का समाजशास्त्र नये रूप में हमारे सामने आया, जिसे ‘निर्वासन’ उपन्यास में देखा जा सकता है। आज का समाज अमेरिकीकरण से प्रभावित है। अमेरिका की संस्कृति भारतीय जीवन-शैली में घुसपैठ कर रही है, लेकिन इसका संघर्ष भारतीय परंपरा और भारतीय संस्कृति से भी निरंतर बना हुआ है जिसका वर्णन अखिलेश ‘निर्वासन’ में काफ़ी सूक्ष्मता के साथ करते हैं। उत्तराधुनिकता एक विचार है या जीवन-शैली? इसने उपन्यास के समाजशास्त्र को कैसे प्रभावित किया? विभिन्न विमर्शों से समाज में क्या परिवर्तन आया? ये विचारणीय प्रश्न हैं, जिन पर समकालीन उपन्यासों में काफ़ी चर्चाएँ भी हुई हैं। ‘निर्वासन’ उपन्यास एक ओर भारतीय जातिवाद के जटिल यथार्थ को विश्लेषित करता मानव मनोविज्ञान और भारतीय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सामने लाता है, तो दूसरी ओर यह प्रश्न भी उठाता है कि उत्तराधुनिक जीवन शैली या वैचारिकी मानव-जीवन के लिए कितना उपयोगी है?

किसी भी उपन्यासकार के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के विश्लेषण के लिए इतिहास को समझना आवश्यक होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत जैसे जाति बहुल देश में जाति के इतिहास का यथार्थ काफ़ी संश्लिष्ट है। अखिलेश ने अपने ‘निर्वासन’ उपन्यास में जाति की समस्या के रूप में जिस सामाजिक यथार्थ को हमारे सामने रखा है वह न केवल सामाजिक विडंबना को प्रत्यक्ष करता है, अपितु उस मनोविज्ञान को भी दर्शाता है, जिसके कारण मनुष्य का मनुष्य से ही नहीं मनुष्यता

से भी विस्थापन हो रहा है। 'निर्वासन' में हरहू को अपने समाज में रैदास की तरह जब सम्मान मिलता है, तो पुरोहित महाराज को यह पचता नहीं है। वे न तो शूद्रों के शरीर को ईश्वर का निवास-स्थान मान पाते हैं और न ही इस सत्य को स्वीकार कर पाते हैं कि ईश्वर ने तो सबको समान बनाया है, भेद इंसान ने उत्पन्न किए हैं। (पृ. ४९)

इस संदर्भ में गॉडफ्रीड बैन की मान्यता सही प्रतीत होती है, जो कहते हैं- “बाहरी यथार्थ जैसी कोई चीज नहीं है, केवल मानव चेतना है जो अपनी सृजनशीलता से एक नई दुनिया का निर्माण करती है, उसे बदलती है, फिर बनाती है।” (समकालीन यथार्थवाद, पृ. २५) अखिलेश 'निर्वासन' में जातिवाद की विद्रुपताओं और विसंगतियों का जिस तरह चित्रण करते हैं और पुरोहित महाराज की नृशंसता और निर्ममता का यूटोपियाई परिणाम सामने रखते हैं, वह काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ प्रतीत होता है क्योंकि भारतीय दर्शन और गीता में कर्म और कर्मफल की अवधारणा है जो भारतीयों की चेतना और कल्पना में स्थित है। पुरोहित महाराज से एक दलित कैसे बहस कर सकता है? इस प्रश्न का भी अपना समाजशास्त्र है, जिसमें सामंती दमनकारी मानसिकता का विध्वंसकारी खेल भी समय-समय पर चलता रहता है। हरहू और उसके परिवार के सभी सदस्यों की लाशों का कुएँ में तैरना यानी उसके परिवार के सभी सदस्यों का खुदकशी कर लेना, इतना ही नहीं गाँव के अन्य पाँच कुँओं में भी लाशों का तैरना जातिवाद और सामंती मानसिकता का दुष्परिणाम है, जो आज भी हमारे समाज में समय-समय पर दिखता रहता है। अखिलेश 'निर्वासन' में जिस हरहू और उसके परिवार का यह मार्मिक अंत दिखलाते हैं, वह ब्रिटिश शासन का कालखंड है, जब सूचना-तंत्र नहीं था लेकिन आज के उत्तराधुनिक समाज में भी पुरोहित महाराज और हरहू हर जगह विद्यमान हैं। जातिवाद का यह विध्वंसक रूप सोशल मीडिया या अन्य मीडिया के माध्यम से हमारे सामने आता है। इस तरह की घटनाएँ जब घटती हैं तो इसे दबाने की भी काफ़ी कोशिश की जाती है, लेकिन

यह सत्य तो सामने आ ही जाता है कि यह आत्महत्या नहीं, बल्कि हत्या है फिर भी दोषियों को इस रूप में देखा जाता है कि वह सामान्य व्यक्ति नहीं है, अपितु 'पुरोहित महाराज' हैं।

भारतीय समाज धर्मभीरू है, जिससे इस तरह की नृशंस घटनाएँ लोगों के मन को अनिष्ट की आशंकाओं से भर देती हैं। 'निर्वासन' में दूर-दूर तक फैले अकाल की विभीषिका एवं त्रासदी के चित्रण में जिस कारण-कार्य का संबंध है, वह भारतीय संस्कृति और पारंपरिक भारतीय समाज की आस्था और आशंका को व्यक्त करती है, जो हमारी चेतना में स्थित है।

जातिवाद का समाजशास्त्र भगेलू कुम्हार के इस मिथ्या कथन से भी सामने आता है- “पांडे हूँ सरकार, बाभन।” (पृ. ५६) इस मिथ्या कथन के पीछे के भय, आशंका, महत्वाकांक्षा और द्वन्द्व आज भी उन लोगों का स्मरण दिला देते हैं जो अपने नाम के आगे जातिसूचक सरनेम नहीं लगाते, फिर भी समाज में पुरोहित महाराज जैसे लोग उनकी जाति की पहचान कर उनके मार्ग को अवरोधों से भर देते हैं।

संस्कार मनुष्य की अस्थि और मज्जा में विद्यमान रहता है और अतीत वर्तमान की परछाई के रूप में मनुष्य के साथ चलता है। भगेलू यानी बाबा का मिट्टी के बर्तन बनाकर उत्साहित और प्रसन्न होना और भारत में छोड़ आये परिवार की स्मृतियों से व्याकुल होना उनका भारतीय संस्कार है, जिससे वे परिचालित होते हैं। 'निर्वासन' में कई तरह के समाजों का चित्रण है। अमेरिकन समाज में परिवार के लिए आस्था नहीं होती। मातृत्व के लिए वहाँ उत्साह या समर्पण भी नहीं होता। रामअजोर पांडे के भीतर अपने बाबा का संस्कार है, लेकिन जोएन और रामअजोर की दूसरी पत्नी अमेरिकन संस्कृति से परिचालित होती है जिससे उनके भीतर मातृत्व के लिए कोई आकर्षण नहीं है। वहाँ केवल सुख भोग का भाव है। रामअजोर पांडे के भीतर स्त्रियों के लिए नकारात्मक भाव उत्पन्न होना मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है, जिससे समाजशास्त्र प्रभावित

होता है। अखिलेश 'निर्वासन' में जिस समाजशास्त्र का विश्लेषण करते हैं, वह उनके मानववादी दृष्टिकोण और भारतीय संस्कृति से प्रेरित है। 'निर्वासन' में अपनी कंपनी को चरम पर पहुँचाकर रामअजोर पांडे अपने बाबा के बिछुड़े परिवार की खोज के लिए भारत आते हैं और बाबा के गाँव गोसाईगंज की खोज करने का प्रयास करते हैं। गोसाईगंज की खोज की प्रक्रिया में अखिलेश का समाजशास्त्र सामने आता है और भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अलग-अलग पन्ने खुलने लगते हैं।

'निर्वासन' में प्रलाप की मनःस्थिति में चाचा का यह कथन भारतीय समाजशास्त्र को समझने के लिए महत्वपूर्ण सूत्र देता है- "दरअसल औरत, जाति और धर्म-इन तीनों के नाम पर बुजदिल, नरमदिल, नेकदिल भी खौफनाक बन जाता है।...जो लोग रोजमर्रा की ज़िन्दगी में घायल परिदा देख कर दुखी हो जाते हैं...चींटियों को आटा खिलाते हैं, बंदरों को चना वे भी दंगों में इंसान के खून की होली खेलने की बात करने लगते हैं।...और जो जाति है न, शोर कम मचाती है..खून भी कम बहाती है पर भीतरी हिंसा करती है।" (पृ.११२-११३)

डर मनुष्य को आतंकित करता है लेकिन डर किस रास्ते से आता है और मनुष्य के भीतर कैसे अपनी जगह बना लेता है यह हम नहीं समझ पाते लेकिन यह अचेतन का व्यापार है, जो हमारी ज़िंदगी को अशांत और व्याकुल ही नहीं बनाता, अपितु ज़िन्दगी को परिचालित भी करने लगता है, जिसका संकेत नीलरत्न के माध्यम से अखिलेश 'निर्वासन' में देते हैं। स्त्री के अनेक रूप हैं। उसके सभी रूपों के महत्व और गरिमा को समझकर ही कोई पुरुष संपूर्णतः उसे पाने में समर्थ हो सकता है। अखिलेश स्त्री को राधा, सीता, पार्वती, दुर्गा, आदिवासी और महासाम्राज्ञी सभी रूपों में स्वीकार्य मानते हैं, जिससे उनका स्त्री-पुरुष के संबंधों का भी समाजशास्त्र सामने आता है।

अखिलेश ने सामाजिक जीवन में 'सम्मान' और 'क्षमा' के मनोविज्ञान को महत्वपूर्ण माना है। यह परिवार और समाज को विघटन, विस्थापन और निर्वासन की त्रासदी

से सुरक्षित रख सकता है। इसके विपरीत अपमान और तिरस्कार की पीड़ा मनुष्य को क्रोध, घृणा और विस्थापन की ओर ले जाती है। 'निर्वासन' में गौरी अपने ससुर के अपशब्दों को वर्षों बाद भी भूल नहीं पाती- "...कहूँगी कि एक आंधी बाहर चल रही थी और एक तूफान अंदर चल रहा था। बहुत दिनों बाद मुझमें इतनी खूँखार नफरत खौल रही थी। मैं इसे बरदाश्त नहीं कर पा रही थी कि सूर्य उन लोगों में घुला-मिला, गले लग कर रोया होगा ? या सूर्य ने उनके पैरों पर माथा टेक कर पश्चाताप जताया होगा ? मेरी नफरत, मेरा क्रोध और मेरा अपमान आज इसलिए ज्यादा तीखा था क्योंकि तब से लेकर हमेशा सूर्य मेरे साथ था मगर अब मैं अकेली...।" (पृ.३५८-३५९)

नब्बे के दशक में समाजशास्त्री पी.सी. जोशी ने मीडिया की सामाजिक भूमिका के लिए कहा था- "मार्शल मैक्लुहान ने कहा था मीडिया तो अपने मूल स्वभाव में मानवीय है, लोकतांत्रिक है। अपने स्वभाव में यह सक्रिय, प्रगतिशील, प्रभावशाली और सार्वजनीन है। यह 'एलिटिस्ट' नहीं है, लेकिन आज आप देखिए, क्या हो रहा है ? हमारे देश में ही नहीं, दुनिया भर में टेलीविजन, रेडियो या सिनेमा का इस्तेमाल एक निकम्मे दर्शक समाज को गढ़ने के लिए हो रहा है।" (मेरे साक्षात्कार) पी.सी. जोशी को यह भय था कि समाज कहीं टेक्नोलॉजी का गुलाम न हो जाए। उनका यह भय अकारण नहीं था। आज की पीत पत्रकारिता जिस तरह समाज को भ्रमित करती है उसका उदाहरण 'निर्वासन' में देखा जा सकता है। पी.सी. जोशी यह मानते थे कि हमारे संचार माध्यमों का दुरुपयोग हो रहा है। उनके पास कोई थिंक टैंक ही नहीं है जो सूचनाओं और समाचारों को गंभीरता से ले सके। (मेरे साक्षात्कार) अखिलेश 'निर्वासन' में इस सत्य को सामने लाते हैं कि आज का समाज मीडिया के कारण द्वन्द्वों से घिरा और अनिर्णयात्मक मनःस्थिति में रहता है, जिसकी संवेदना और विवशता का मीडिया दोहन करता है- "चैनल के स्टेड हेड को किसी ने मेरी कैसर वाली बात पहुँचा दी थी। स्टेड हेड खासा उत्साहित हो गया। उसने अपने चैनल

पर मुझे पेश करने की एक विशेष योजना भी बना ली। उसने तय किया था कि मेरी पहली रिपोर्ट प्रस्तुत करने के पहले दस दिनों तक मेरा विज्ञापन दिखाया जायेगा जिसमें कहा गया होगा-मौत से घिरा पत्रकार लाएगा जिंदगी के समाचार। अब मैं मौत से घिरा नहीं हूँ...स्टेट हेड का कहना है कि मेरा सबसे मज़बूत पक्ष कैंसर था। अब वो नहीं है तो किस्सा खत्म।” (पृ.३८) नौकरी के लिए निरंतर संघर्षरत सूर्यकांत कैंसर न होने के कारण प्रसन्न नहीं हो पाता है, क्योंकि इसके कारण नौकरी पाने का अवसर वह गँवा चुका है।

लुकाच की मान्यता है कि मनुष्य संस्कार अर्जित करता है और परिस्थिति के अनुरूप यदि चाहे तो अपना व्यक्तित्व भी परिवर्तित कर सकता है। लुकाच यह भी कहते हैं कि “प्रतिभा और चरित्र सहजात हो सकते हैं, लेकिन मनुष्य अपने वातावरण की शक्तियों द्वारा परिवर्तित होते हैं।” (समकालीन यथार्थवाद, पृ.५२-५४)

मीडिया के प्रपंचों से प्रभावित सामाजिक वैचारिकी के परिवर्तन की विडंबना को ‘निर्वासन’ में अखिलेश ने मनोग्रंथियों के विश्लेषण और आर्थिक स्थितियों के संदर्भों के साथ चित्रित किया है।

फ्रांसीसी समीक्षक मॉरिस नाडोव बैकेट के साहित्य के संदर्भ में कहते हैं- “साहित्य के परंपरागत क्षेत्रों को छोड़ने और अँधेरे क्षेत्र में बहुत गहरे तक प्रवेश के लिए बाध्य कर दिया- ऐसी सीमा जहाँ अस्तित्व और चेतना विलीन हो जाते हैं और अन्वेषक का रास्ता उसे मौन और विशुद्ध यथार्थ की कोठरी में पहुँचा देता है।” (समकालीन यथार्थवाद, पृ.६३) उपन्यासकार अखिलेश आज के उत्तराधुनिक युग में व्यक्ति के निर्वासन को देखते हैं। यह निर्वासन परिवार, समाज और राष्ट्र से संबंधित है। मनुष्य में आकर्षण और विकर्षण के कारण द्वन्द्व उत्पन्न होता है,

जो स्वाभाविक भी है। मनुष्य के लिए परिवार, समाज या अपने देश से पूरी तरह कट पाना काफ़ी कठिन होता है, क्योंकि उसके साथ परंपरा और संस्कृति के अतिरिक्त ऐसी ढेर सारी स्मृतियाँ भी रहती हैं, जो समय-समय पर उसे या तो विचलित करती हैं या उनमें आनंद भर देती हैं। प्रगतिशीलता के इस युग में भी जातिवाद का ज़हर मनुष्यता को खत्म करके मनुष्य को मनुष्य से ही विस्थापित कर देता है। अखिलेश ‘निर्वासन’ उपन्यास में अतीत में वर्तमान और वर्तमान में अतीत की कथा के माध्यम से आज के प्रगतिशील समाज को हमारे सामने लाते हैं और इसकी गतिशीलता और अवरोधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हैं।

राजनीतिक प्रपंच व्यक्ति के जीवन को कुप्रभावित करता है। ‘मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है’, जिससे समाजशास्त्र का प्रभावित होना भी स्वाभाविक है। राजनीति में किसी को हवि बनाकर अपना हित साधना काफ़ी सामान्य बात है- “ताकि अगली सरकार आने पर नौकरी से निकाल दिया जाऊँ और जेल की हवा खाऊँ। सर मेरा वर्तमान कुँआ बन गया है और भविष्य खाई।” (निर्वासन, पृ.३०) वोटों की राजनीति और कमाऊ सरकारी योजना के कारण जब जनता में रोष उत्पन्न होता है, तो ‘हवि’ निर्दोष ही बनते हैं। ‘हवि’ बनाने का यह षड्यंत्र नौकरशाहों से लेकर छोटे कर्मचारियों तक चलता रहता है। भ्रष्टाचार की जड़ें मजबूत करने की प्रक्रिया किस तरह ऊपर से आरंभ होती है और ‘हवि’ बने मनुष्य किस तरह कुंठा ग्रंथि के शिकार होते हैं, यह अखिलेश अपने उपन्यास ‘निर्वासन’ में सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट करते हैं। लुकाच की तरह अखिलेश की भी यह मान्यता है कि सामाजिक विघटन का संबंध वैयक्तिक विघटन से है और व्यक्ति एवं व्यक्तित्व का विघटन समाजशास्त्र को प्रभावित करता है।

संपर्क: हिंदी विभाग, वर्द्धमान विश्वविद्यालय, पश्चिम बंगाल-७१३१०४ मो. ९८१८३६३४६५

रूपक-कथा, न्याय और जनतंत्र: कितने पाकिस्तान

डॉ. सारदा बैनर्जी

कमलेश्वर ने अपने उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' में रूपक-कथा की पद्धति के जरिए न्याय और अन्याय के प्रश्न पर गहराई से विवेचन किया है। इतिहास में हो चुके तथा वर्तमान दौर में लगातार हो रहे सत्य और नैतिकता के उल्लंघन की धाराप्रवाहता को संबोधित करते हुए कमलेश्वर ने उपन्यास की कथा-वस्तु को विकसित किया है। इस संदर्भ में लेखक ने दुनियाभर में हो चुके तमाम उत्पीड़न, अनाचार तथा अन्याय के ऐतिहासिक दस्तावेजों को सविस्तर खोलकर पाठकों के सामने रखा है तथा इतिहास की पुनर्व्याख्या के माध्यम से जनतांत्रिक विचारधारा को प्रतिष्ठित करने की आंतरिक कोशिश की है। भारत-विभाजन के दौरान व बाद में हुए सांप्रदायिक कल्लेआम व जातिसंहार के मूल में सांप्रदायिक भेदभाव की मनोवृत्ति को उत्तरदायी मानते हुए लेखक का उद्देश्य है धर्मनिरपेक्षता, प्रेम व मैत्रीभाव के जरिए मानवतावाद की स्थापना करना।

कमलेश्वर यह उपन्यास उस दौर में लिख रहे थे, जब देश में पृथक्तावादी, सांप्रदायिक, जातिवादी, भाषावादी नस्लवाद व धार्मिक ताकतें अपने पूरे जोशो-खरोश पर थीं। कट्टरपंथी शक्तियां जनता के मन में धीरे-धीरे अपना प्रभाव विस्तार कर रही थीं। इतिहास की तोड़-मरोड़ तथा तथ्यों की गलत व्याख्या के जरिये मजहबी ताकतें हिन्दुत्ववाद एवं सांप्रदायिकता का प्रचार-प्रसार कर रही थीं। यह समस्या आपातकाल के खात्मे के समय से लगातार बनी हुई थी। सन १९७७-१९७९ तक अलीगढ़, बनारस तथा जमशेदपुर में, सन १९८१ में बिहारशरीफ में, सन १९८० के मुरादाबाद दंगों, सन १९८२ में बड़ौदा तथा मेरठ में, सन १९८३ में असम में, सन १९८४ के सिख-विरोधी दंगे, सन १९८५ में अहमदाबाद में, सन १९८७ में मेरठ में, सन १९८९ में भागलपुर में तथा सन १९९० में रामजन्मभूमि आंदोलन से लेकर बाबरी मस्जिद के विध्वंस तक देश का माहौल लगातार अतिसंवेदनशील बना हुआ था। विध्वंस के बाद मुंबई, सूरत, अहमदाबाद, कानपुर, भोपाल, दिल्ली आदि जगहों में साम्प्रदायिक दंगों की भयंकर घटनाएं हुईं। मुंबई में १००० लोगों का कत्ल किया गया, सूरत में मुस्लिम स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया। (डॉ. असगर अली इंजीनियर, सोइंग हेट एंड रीपिंग वायोलेंस, पृ. १०-१६)

भारत-पाकिस्तान विभाजन के बाद से ही धार्मिक तत्वों ने लगातार हिन्दू और मुस्लिम जनसमुदाय के बीच नफरत का बीजवपन किया और ऐसा करने के लिए इतिहास की मनगढ़ंत व्याख्या की गई, जिससे हिन्दू-मुस्लिम दो संप्रदायों में नफरत पुख्ता हो और उनके धार्मिक बंटोधार में मदद मिले। सांप्रदायिक विद्वेष को जागृत करने के लिए उन्मादी तत्वों द्वारा किस प्रकार मिथ्या का सहारा लिया गया, इस पर रोशनी डालते हुए प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने लिखा है, “बाबरी मस्जिद प्रकरण में उपजी

सांप्रदायिक विचारधारा ने जहाँ एक ओर कानून एवं संविधान को अस्वीकार किया, दूसरी ओर इतिहास का विद्रूपीकरण किया। इतिहास के तथ्यों की अवैज्ञानिक एवं सांप्रदायिक व्याख्या की गई, इतिहास के चुने हुए अंशों एवं तथ्यों का इस्तेमाल किया। और यह सब किया गया विद्वेष एवं घृणा पैदा करने के लिए व समाज में विभेद पैदा करने के लिए।” (प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी, मीडिया समग्र, पृ.-२१८)

गंभीर अध्येताओं, प्रगतिशील चिंतकों तथा जनवादी साहित्यकारों के लिए यह गंभीर चिंता का विषय था कि किस प्रकार देश में धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण एवं विचारधारा को विकसित किया जाए तथा देश के इतिहास एवं वर्तमान को आधारहीन धार्मिक व्याख्या से मुक्त किया जाए।

कमलेश्वर ने ‘कितने पाकिस्तान’ में रूपक कथा के आवरण में ‘बाबरनामा’, बाबर की बेटी गुलबदन बेगम द्वारा लिखित ‘हुमायूँनामा’, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया में ए. फ्यूहरर द्वारा बाबर के शिलालेख को देखकर किए गए अनुवाद तथा सरकारी तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि राममंदिर को गिराने में बाबर की कोई भूमिका नहीं थी और ना ही बाबर कभी अयोध्या गया था। अदीब के अदालत में बाबर, उसकी बेटी गुलबदन बेगम, ए. फ्यूहरर ने अपना-अपना पक्ष रखा और यह प्रमाणित किया कि अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए किस प्रकार बाबरनामा के बीस पन्ने गायब कर दिए। बाबरनामा के उन पन्नों में इस बात का जिक्र था कि बाबर अफ़ग़ान विद्रोहियों का पीछा करते हुए घाघरा नदी के पश्चिमी कछारों तक तो गया था, लेकिन जैसे ही काबुल से उनकी बेगम और बेटियाँ के हिन्दुस्तान आने की खबर मिली; फौरन अलीगढ़ वापस लौट पड़ा था। वह घाघरा नदी के पूर्वी किनारे के पार अयोध्या कभी गया ही नहीं था।

धार्मिक तत्वों ने सालों से यह भी प्रचारित किया था कि मोहम्मद-बिन-कासिम चूँकि मुसलमान था इसलिए उसने मंदिरें तोड़ी थीं जो कि हिन्दू-विरोधी कदम था।

जबकि वास्तविकता यह थी कि कासिम का मूल इरादा हिंदुस्तान पर हुकूमत कायम करना और यहां की धन-संपदा को लूटना था ना कि हिन्दुओं पर हमले करना। उस दौरान खजाने चूँकि मंदिरों के नीचे जमींदोज रहते थे, इसलिए यह स्वाभाविक था कि खजानों की प्राप्ति के लिए मंदिरों पर हमले हुए जिस घटना पर बाद में धार्मिक रंग चढ़ाया गया और घृणा के प्रचार के लिए इतिहास की मजहबी व्याख्या पेश की गई। प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक असगर अली इंजीनियर का मानना है कि भारत के राजनेताओं के लिए इतिहास एक बेहद शक्तिशाली राजनैतिक औज़ार बन चुका है। मानवीय भावावेश को जागृत करने में धर्म की तरह इतिहास भी एक प्रभावशाली माध्यम है। (राम पुनियानि (सं), अयोध्या: मंदिर-मस्जिद डिस्प्यूट (टुवर्ड्स पीसफुल सल्युशन))

इन घटनाओं को उद्घाटित करके कमलेश्वर वस्तुतः इतिहास की पुनर्व्याख्या करते हैं, इतिहास का पुनरुद्धार करते हैं और इसके जरिए जनतंत्र को प्रतिष्ठित करते हैं। इसी क्रम में कमलेश्वर इतिहास के पन्नों को पलटते हुए पाठकों को नई जानकारियों से लबरेज करते हुए उदारवादी दृष्टिकोण को भी प्रतिष्ठित करते हैं। लोकतंत्र के आने के बाद यह जरूरी बन जाता है कि इतिहास की पुनर्व्याख्या की जाए और उन पहलुओं को सही ढंग से खोला जाए, जिनका देश की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर गहरा प्रभाव रहा हो। यह उपन्यास इतिहास के विकृतिकरण को संबोधित करता है। इस प्रकार इतिहास की सही व्याख्या प्रस्तुत करके पाठकों का विरेचन (कैथारसिस) भी करता है।

औरंगजेब ने तख्त प्राप्ति के लिए धर्म का सहारा लिया तथा अपने भाईयों दाराशिकोह, शुजा तथा मुराद के बीच धार्मिक भेदभाव निर्मित करने की कोशिश की। औरंगजेब और दाराशिकोह का मूल मतभेद इस बात में था कि औरंगजेब कट्टर इस्लामी साम्राज्य स्थापित करना चाहता था और इसके लिए वह हर तरह की नृशंसता के लिए राजी था। इसीलिए औरंगजेब के जमाने में ना केवल

हिंदुओं पर बल्कि मुसलमानों पर भी हमले हुए थे। जो निधर्मी थे या ईस्लाम के अनुयायी नहीं थे, उन मुसलमानों को खूब सताया गया। जबकि दाराशिकोह एकत्व का रास्ता चाहता था जिसमें हर धर्म के मनुष्य को शामिल किया जाए। वह इस्लाम को केवल मुसलमानों के धर्म के रूप में ही नहीं बल्कि एक विराट मानव धर्म के रूप में फैलाना चाहता था।

शिवली नोमानी जैसे इतिहासकारों ने औरंगजेब और दाराशिकोह के वैचारिक मतभेद को काफिर बनाम नमाजी के युद्ध के रूप में पेश करके मामले को मजहबी जामा पहनाया तथा औरंगजेब के पक्ष में झूठी कहानियाँ गढ़ी गई। औरंगजेब द्वारा काशी विश्वनाथ मंदिर को तोड़ने के पीछे मंदिर के पंडों द्वारा तहखाने में रानी के बलात्कार की मनगढ़ंत कहानी का इतिहासकार पट्टाभि सीतारमैया ने सहारा लिया जिससे मंदिर तोड़ना अन्याय के प्रतिवाद में की गई न्यायपूर्ण घोषणा जान पड़े। कमलेश्वर ने दाराशिकोह के साथ विश्वासघात, करके झूठ का सहारा लेकर औरंगजेब का साथ देने वाले राजाओं की भी मुखालफत की है। इनमें जोधपुर के राजा जसवंत सिंह, जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह, जम्मू का राजा राजरूप, मलिक जीवन आदि अवसरवादी राजा थे। जिन्होंने राज्य और सत्ता के खोने के डर से अहम वक्त पर औरंगजेब का साथ देकर दाराशिकोह को हार के लिए विवश किया। इस प्रकार हिन्दुस्तान की बनती एक सहिष्णु और एक नई तहजीब का अंत हो गया।

दरअसल कमलेश्वर इस उपन्यास के जरिए स्मृतियों को पुनर्जीवित करते हैं और स्मृतियों में ले जाकर इतिहास के कारणों की जाँच करते हैं। स्मृतियाँ ही हैं जिनके जरिए धार्मिक तत्व इतिहास की विकृत व्याख्या करके हिंसामूलक गतिविधियों को अंजाम देती आई है। इसलिए स्मृतियों को पुनर्जीवित करके उनकी पुनर्व्याख्या करना और पाठकों के जेहन में सत्य को पुनर्प्रतिष्ठित करना, कमलेश्वर का उद्देश्य है। कमलेश्वर ने लिखा है, “नफ़रत एक ऐसा स्कूल है जिसमें पहले खुद को प्रताड़ित, अपमानित और

दंशित किया जाता है...उसे घृणा की खाद से सींचा जाता है और तब उसकी स्मृति को एकात्म करके प्रतिशोध के नुकीले हल से जोतकर हमवार किया जाता है। इसीलिए घृणावादियों के तर्क इकहरे और एक से होते हैं....उनके पास अधिक बातें नहीं होतीं। वे हजारों-लाखों मुखों से एक ही स्वर में बोलते हैं, एक से प्रश्न उठाते हैं, एक सी दलीलें देते हैं....यही उनकी एकता की पहचान बन जाती है।” (कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृ.-९३-९४)

मानव-मन की शाश्वत अदालत खोलकर अदीब बैठे हैं। यह अदालत अप्राकृतिक मृत्यु वरण कर चुके लोगों के लिए खुली है जो कुदरती मौत से पहले मर चुके। कमलेश्वर के शब्दों में, “यह मजलिस नहीं, वक्त की अदालत है...तमाम सदियों के उस वक्त की अदालत, जो इंसान की रूह पर भारी पड़ता है...सदियों की इसी तहकीकात के मुकदमे इस अदालत में चल रहे हैं ताकि अपने मन की अदालत में सच के फ़ैसलों को हासिल करके, दुनिया की हर रूह, खुद को विस्थापित होने से बचा सके और दुनिया की इस सराय में भयमुक्त होकर सुकून से अपना वक्त गुज़ार सके।” (पृ.-२५९-२६०)

वस्तुतः कमलेश्वर एक लेखक के जरिए इतिहास को चुनौती देते हैं, न्याय के सवाल पर बहस करते हैं। वक्त की अदालत वक्त को पीछे ले जाती है, घटनाओं की तहकीकात करती है, उन गुत्थियों को खोलती है, जिन पर गांठ पड़ी हुई थी तथा बहस, गवाहों और तथ्यों के मद्देनज़र सत्य का पुनरुत्थान करते हुए न्यायशीलता के पक्ष में फैसले सुनाती है। यह अदालत विभिन्न चरित्रों, गंगा, यमुना, चंबल, सतलज, नर्मदा, व्यास, सिंध आदि नदियों, कई इतिहासकारों के जरिए इतिहास की पुनर्व्याख्या करती है और इसके जरिए सही तथ्यों एवं वास्तविक घटनाओं को पाठकों के समक्ष लाती है। दुनिया के तमाम अन्यायों को बेनकाब कर सत्य की खोज करना और न्याय की प्रतिष्ठा ही रचनाकार का उद्देश्य है।

अलग-अलग देशों में बन रहे छोटे-छोटे पाकिस्तान की घटनाओं से भी कमलेश्वर व्यथित और चिंतित हैं।

युगोस्लाविया, अफ़गानिस्तान, मिश्र, ईरान, ट्यूनिशिया, तुर्की, सोमालिया, अल्जीरिया, लेबनान में धर्म के नाम पर अपने-अपने ढंग का गैर-कुदरती पाकिस्तान बना। नफ़रत और त्रासदी की प्रक्रिया से गुजरते हुए जब इंसान गुटों में बँट जाता है तब वह अपने इतिहास से ही नहीं बिछुड़ता, अपनी उदार संस्कृति को भी अपमृत्यु की ओर ले जाता है। कमलेश्वर के शब्दों में, “...कोई भी संस्कृति पाकिस्तानों के निर्माण के लिए जगह नहीं देती। संस्कृति अनुदार नहीं, उदार होती है...वह मरण का उत्सव नहीं मनाती, वह जीवन के उत्सव की अनवरत श्रृंखला है...इसी सामासिक संस्कृति की ज़रूरत हमें है क्योंकि वह जीवन का सम्मान करती है।” (पृ.- १८२)

कमलेश्वर ने मानव-सभ्यता को संवेदनशील, नैतिक, मैत्रीपूर्ण और मानवीयता से परिपूर्ण माना है जबकि देव-सभ्यता में मौजूद आचारहीनता, नियमहीनता, अनैतिकता और भोगवादिता की सख्त आलोचना की है। ऐसा करते हुए उन्होंने मिथकीय चरित्रों की आचार-संहिता पर एक बड़ा सवालिया निशान लगाया है। दुनिया की तमाम धार्मिक लड़ाईयों, सांप्रदायिक हत्याकांडों के बीज में मौजूद देव-सभ्यता के प्रति आस्था और भक्ति के नकलीपन को बेनकाब करते हुए कमलेश्वर ने देव-सभ्यता की पतनशील मानसिकता को चुनौती दी है। ऐसा करते हुए कमलेश्वर ने देव-सभ्यता के विमर्श को तैयार किया है। देव-सभ्यता में मौजूद जितनी भी नियमहीनता है, आचार-संहिता के उल्लंघन की प्रवृत्ति है वही धरती पर विराजमान उनके कट्टरपंथी भक्तों में भी मौजूद है। राम द्वारा शंबूक की हत्या, इंद्र द्वारा अहिल्या का बलात्कार, चंद्र द्वारा गुरु-पत्नी तारा का अपहरण और बलात्कार आदि घटनाओं का उल्लेख करके देवताओं की दलित-विरोधी तथा स्त्री-विरोधी प्रवृत्ति को ऊजागर किया गया है।

इसी देव-परंपरा का अनुसरण करते हुए धर्मांध कट्टरतापंथी ताकतों ने राममंदिर बनवाने के नाम पर बाबरी मस्जिद गिराई, सदियों तक स्त्रियों और दलितों को उनके अधिकारों से वंचित रखा तथा उनका शोषण किया,

दलितों को गुलाम तथा स्त्रियों को भोग्या माना। किसी भी संस्कृति की पहचान उस संस्कृति में स्त्री की अवस्था, उसके सम्मान, उसकी मर्यादा और सामाजिक हैसियत से स्वीकृत होती है। कमलेश्वर का मानना है, “औरत की आबरू ही संस्कृति के मयारों को तय करती है...जो तहज़ीब अपनी औरत की आबरू को इज्जत नहीं दे सकी, वह रोम, यूनान और मिश्र की तरह मिट गई।” (पृ.-२१९)

ग्रीकदेवता पॉसायडन और एजैक्स जब महायुद्ध के बाद लौट रहे थे तो एजैक्स ने एथीनी की प्रतिमा से लिपटी चिरकुमारी कजैण्ड्रा को घसीटकर उसके साथ बलात्कार किया, साथ ही एथीनी के साथ भी किया। अपोलो भी कजैण्ड्रा के साथ बलात्कार करना चाहते थे जिसका उसे अवसर नहीं मिल पाया। भोगवाद की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके देवताओं को धिक्कारते हुए देवी तानिया समग्र देवी-देवताओं से कहती हैं, “तुम समस्त देवता लोग प्रेमविहीन और एकांगी व्यक्ति हो। तुम सब स्त्री पर आसक्त होकर उसका शीलभंग कर सकते हो...अवैध संतानें पैदा कर सकते हो, क्योंकि तुम अहंमन्य हो। तुम नितांत व्यक्तिवादी हो। तुम्हारे पास मित्रता का मूल्य नहीं है...तुम्हारे पास केवल वासना है, प्रेम नहीं है। केवल वैयक्तिक श्रेष्ठता का द्वेष है इसलिए मित्रता नहीं।” (पृ.-२९)

देवसभ्यता से विरासत में मिली बलात्कार की इस परंपरा को धरती पर रह रहे उनके कट्टरपंथी भक्तों ने संभाला हुआ है। युद्धों के दौरान सैनिकों, हमलावरों तथा धार्मिक कठमुल्लों द्वारा सामूहिक बलात्कार और लूटपाट पूरी दुनिया में अब तक बरकरार है। इस उपन्यास में दंगों के दौरान विद्या के साथ दो लड़के दो बार बलात्कार करते हैं। चाहे किसी भी मुल्क का सैनिक हो, स्त्री उसके लिए भोग्या है, कामतृप्ति की वस्तु है। यही वजह है कि ‘बीबी’ के साथ दुश्मन फौज के वर्दीवाले फौजियों ने जितनी बेरहमी से बलात्कार किया, उसके अपने मुल्क के फौजियों ने भी उतनी ही बेरहमी से किया। दोनों बार बलात्कार के बाद समाचारपत्रों में सैनिकों की जांबाजी को लेकर तारीफों

की पुल बाँधी गई। लेकिन कमलेश्वर के शब्दों में, 'वह रेंदी हुई औरत बार-बार सोच रही थी- आखिर हमलावर था कौन?' (पृ.-३४०) भोगवादी मानसिकता स्त्री को जिस्म से आगे नहीं देख और सोच पाती, इसी मनोदशा पर प्रहार करते हुए कमलेश्वर ने पुरुषों की दृष्टि में स्त्री की उपादेयता के प्रश्न को रेखांकित किया है।

जिन परम पवित्र देवताओं के मंदिर-निर्माण के लिए धरती पर मनुष्य नियम तोड़ रहा है, एक-दूसरे की आस्थाओं पर हमले कर रहा है, दंगे करवा रहा है, कत्लेआम करवा रहा है, विशृंखलता पैदा कर रहा है, वे देवता आचरण और व्यवहार की दृष्टि से कितने अनैतिक, भ्रष्ट, पातकी व सवर्णवादी हैं, यही दिखाना कमलेश्वर का उद्देश्य है। हर एक धर्म की अपनी सभ्यता होती है, लेकिन जब उस सभ्यता का आधार ही अनैतिकता पर आधारित हो फिर उस धर्म का क्या मूल्य? कमलेश्वर इस बात को स्थापित करना चाहते हैं कि जो धर्म शांति और सौहार्द की जगह दंगे करवाता हो, मनुष्य-मनुष्य में भेद की सृष्टि करता हो, उसका परित्याग ही श्रेयस्कर है। मानवीयता और प्रेम ही एकमात्र धर्म है, जहाँ कोई अनिष्ट नहीं होता।

इसी मानवीयता की भावना को बूटा सिंह के जरिए कमलेश्वर ने 'कितने पाकिस्तान' में चित्रित किया है। विभाजन के बाद जब कुछ लोग जेनिब की अस्मृत लूटने की कोशिश कर रहे थे, तब बूटा सिंह अपनी सारी जमा पूँजी उन्हें देकर जेनिब को बचा लेता है। मित्रता और विश्वास के मानवीय संपर्क को सुमेरी सभ्यता के सम्राट गिलगमेश और एकिदू के मैत्री के माध्यम से वर्णित किया गया है और ऐसा करके यह प्रमाणित किया है धरती कि पर विराजमान मनुष्य स्वर्ग के देवताओं की तुलना में कहीं अधिक विश्वसनीय, विवेकशील, संवेदनशील, आवेगप्रवण और नैतिकतावादी हैं। जहाँ गिलगमेश और एकिदू की मैत्री को तोड़ने के लिए दुष्ट देवता षड्यंत्र करके एकिदू को मार देते हैं वहीं सांप्रदायिक ताकतों की वजह से जेनिब और बूटा सिंह की प्रेम कहानी अधूरी रह जाती है।

कभी दारा के बहाने, कभी तहजीब, कभी सलमा तो

कभी अदीब के बहाने कमलेश्वर ने आँसुओं का जिक्र किया है। जो पवित्र है, जो इंसानियत पर हुए हमलों के दौरान गमगीन वक्त पर दाखिल होता है, जो संस्कृति को जिंदा रखने की नाकामयाबी पर जार-जार बहता है। आँसुओं के माध्यम से लेखक ने मानवीयता को जिंदा रखने की ओर कदम बढ़ाया है जो हर देशकाल में हर साधारण इंसान की आंतरिक तकलीफ पर बहता है। वह आँसू न सांप्रदायिक होता है, न लिंगीय, वह वर्ण, रंग, नस्ल, संप्रदाय, लिंग से परे होता है और इसीलिए एक मानवीय प्रस्फुटन होता है।

कमलेश्वर ने इस पूरे उपन्यास में रूपक-कथा का सहारा लिया है और उसके माध्यम से वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को संबोधित किया है। उपन्यास की घटनाएँ, उसका वातावरण, उसका परिदृश्य, उसके चरित्रों का गठन रूपक-कथा के आवरण में किया गया है। जिसके जरिए लेखक कई प्रतीकात्मक विचारों को सामने रखना चाहते हैं। सन १९४५ में लिखा गया जॉर्ज ऑरवेल का बहुचर्चित उपन्यास 'ऐनिमल फार्म' भी रूपक-कथा पर आधारित है। इसमें पशु-जगत से जुड़े हुए चरित्रों, उनके वक्तव्यों तथा उनकी गतिविधियों के अंतराल में रूसी-क्रांति तथा सोवियत संघ में स्तालिन के अधिनायकवादी समयकाल पर व्यंग्यात्मक लेखन हुआ है।

कमलेश्वर के अनुसार दाराशिकोह की हत्या धर्मनिरपेक्ष और मानवीय विचारों की हत्या है। इस हत्या ने एक विचारशून्य और विवेकहीन पीढ़ी को जन्म दिया है। कमलेश्वर के शब्दों में, "हिन्दुस्तान नाम का एक ऐसा मुल्क उसके सामने था, जिसके बाशिंदों की गर्दनो पर सिर नहीं थे। हर तरफ़ रुण्ड की रुण्ड दिखाई दे रहे थे। बाजार खुले थे, मंदिरों-मस्जिदों के दरवाजे भी खुले थे। चाँदनी चौक की दुकानें भी खुली थीं और बिना सिर वाले रुण्ड जगह-जगह आ जा रहे थे। वे केवल धड़ ही धड़ थे। वे बात करते थे, मोल-भाव करते, चीजें खरीदते, मंदिर-मस्जिदों में पूजा-इबारात के लिए जाते भी दिखाई

देते थे। उनकी आवाज भी सुनाई पड़ती थी पर धड़ पर सिर न होने के कारण उनके बोलते हुए ओंठ नहीं दिखाई देते थे। झपकती हुई आँखें नजर नहीं आती थीं।” (पृ.-२४६)

असल में कमलेश्वर ने यह दिखाने की कोशिश की है कि हिन्दुस्तान और सुदूर मध्य एशिया से लेकर तुर्की तक जब धर्म के आधार पर कत्लेआम और हिंसाचार का माहौल गर्म हो रहा है तब किस तरह सोचने, समझने, विचार करने, सत्य की खोज करने की मनुष्य की क्षमता विलुप्त हो जाती है। इंसान मजहबी दृष्टि से हर चीज को परिभाषित करने लगता है और अपना निजी विवेक खो बैठता है। वह धारा के साथ बहने लगता है, भेड़चाल चलने लगता है। मनुष्य का दृष्टिकोण उसकी बुद्धि तथा विवेक के आधार पर बनता है। सिर पर धड़ का नहीं होना वस्तुतः बुद्धि और विवेक की ह्रासशीलता की ओर इशारा है।

जिस मजहब के नाम पर दारा की हत्या हुई थी, उसी मजहबी कट्टरता ने सन् १९८४ के दंगों, बाबरी मस्जिद विध्वंस और गोधरा कांड जैसे वारदातों को भी अंजाम दिया। इक्कीसवीं सदी में भी यही मजहबवादी विचारधारा तमाम दंगों और हत्याकांड के लिए प्रोत्साहित कर रहा है। मजहब सीमाएँ तय करता है और हत्या की राजनीति को वैधता प्रदान बनाता है। इस मजहबवादी नजरिए के प्रतिवाद में लिखा गया यह उपन्यास इंसानियत के नजरिया को ही आदर्श मानता है।

कमलेश्वर ने रूपक-कथा की आड़ में परमाणु परिक्षण और मानव-बमों के उत्पादन और प्रयोग का भी घोर विरोध किया है। सुमेरी सभ्यता का सम्राट गिलगमेश जीवनौषधि लाने समुद्र की अतल गहराईयों में पाताल-लोक गया हुआ है। धन्वंतरि शुरुप्पक का जियसुद्धु जिनके पास यह औषधि है, वही मनुष्य को मृत्यु से मुक्ति दिला सकता है। वैज्ञानिक तकनीकी का सहारा लेते हुए मानव-हत्या को कमलेश्वर ने भयानक अपराध माना है। इसी तरह जो धर्मांधता में कत्लेआम करते हैं उनके

प्रतिवादस्वरूप प्रगतिशील कवि कबीर बोधिवृक्ष लगाना चाहते हैं। बोधिवृक्ष नीलकंठ की तरह सारा विष पी लेता है। दरअसल यह मानवीयता का बोधिवृक्ष है, धर्मनिरपेक्षता और प्रेम का बोधिवृक्ष है, जो मानव-मानव के बीच हिंसा को खत्म करके एक संवेदनशील मानव-जाति के निर्माण में मदद करे।

कमलेश्वर ने देश के बँटवारे को सबसे बड़ी त्रासदी के रूप में देखा है, जिसके लिए अंग्रेज जिम्मेदार थे। अंग्रेजों से भी पहले औरंगजेब ने इसकी भूमिका तैयार की थी जिसे अंजाम अंग्रेजों ने दिया। कमलेश्वर के शब्दों में, “दिल्ली के तख्त को पाने के लिए औरंगजेब ने धर्म को तलवार बनाया था। दाराशिकोह को मारने के बाद वह कुंठाग्रस्त हो गया था....इसकी इसी कुंठा का नतीजा था कि उसने भारत में रच-बस गए मुसलमानों को मानसिक रूप से विस्थापित बना दिया था। वही मानसिक विस्थापन लगभग दो सदियों के बाद विभाजन का कारण बना।” (पृ.२६०)

सन् १८५७ की व्यापक क्रांति से भयग्रस्त अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन और अपनी सत्ता को बरकरार रखने के लिए हिन्दू-मुस्लिम दो संप्रदायों में धार्मिक हिंसा व भेदभाव को तेज किया और आजादी के समय भी इसी भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण का सहारा लेते हुए देश को भारत-पाकिस्तान में विभाजित किया गया। विभाजन की इस मंशा को साकार करने के लिए साम्राज्यवादियों ने मोहम्मद अली जिन्ना को राजनीतिक सत्ता का आश्रय देकर अपना मोहरा बनाया। इसी तरह इंडोनेशिया को विभाजित करने के लिए उपनिवेशवादियों द्वारा मुसलमान और ईसाई में धार्मिक विभेद की सृष्टि की गई। कमलेश्वर ने भारत विभाजन के लिए जिन्ना को जिम्मेदार ना मानकर माउंटबेटन, रेडक्लिफ, चर्चिल, सर कोनराड कोरफिल्ड के दिमागी षड्यंत्र को माना है। लेकिन इससे भी पहले सन् १९०५ में ही लार्ड कर्जन ने बंग-भंग के प्रस्ताव के माध्यम से बंगाल की मनोदशा को हिन्दू-मुस्लिम में विभाजित कर दिया था, भले ही बंगाल का विभाजन तब संभव ना हुआ हो।

उपनिवेशवादियों ने माया सभ्यता, अजटेक साम्राज्य को भी जड़ से नष्ट किया। अमेरिका, त्रिनिदाद, कनाडा, मेक्सिको, क्यूबा, पनामा, ब्राज़ील, पेरू आदि के मूल निवासियों पर चढ़ाई करके वहाँ उपनिवेश स्थापित किया। वहाँ के कच्चे मालों पर अधिकार करके नए बाजारों का निर्माण किया। साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए बाजारवाद की आंतरिक रणनीति को स्पष्ट करते हुए कमलेश्वर ने लिखा है, “सुनो- बाजारों के लिए ही बनते हैं, साम्राज्य! और साम्राज्यों को जीवित रखने के लिए ही बनाए जाते हैं, बाजार! साम्राज्यों की नाभि बाजार से जुड़ी है। साम्राज्यों के रूप बदल सकते हैं। वे प्रजातांत्रिक आर्थिक साम्राज्य का रूप ले सकते हैं। परन्तु, इन पूँजीवादी प्रजातंत्रों को जीने के लिए मुनाफे के बाजारों की जरूरत है।” (पृ. २९१)

लेकिन यह बाजारवाद संस्कृतियों व सभ्यताओं को किस प्रकार तोड़ती है तथा नियंत्रण के जरिए अपना प्रभाव विस्तार करती है इसका जिक्र करते हुए कमलेश्वर ने लिखा है, “नियंत्रण द्वारा आत्माओं को तोड़ा जाता है....फिर उन्हें विभाजित किया जाता है....उनमें सांस्कृतिक प्रतिरोध की शक्ति विखंडित की जाती है और तब बाजारवादी जोकें उस विभाजित कौम का सारा रक्त चूस लेती हैं।” (पृ. ४५)

उपन्यास में सलमा एक सशक्त, बुद्धिमती, विवेकशील, आजाद-ख्याल और भावनाप्रवण स्त्री-चरित्र के तौर पर सामने आती है। सलमा धर्म के आधार पर इंसान के विभाजन की सर्वथा विरोधी है और इसके लिए विरोधी विचारों से लगातार संघर्ष भी करती है। इस चरित्र के बहाने कमलेश्वर स्त्री से जुड़ी दो परंपरागत धारणाओं से पाठकों को मुक्त करते हैं; पहली, स्त्री बुद्धिमति और संवेदनशील होते हुए भी राजनीति में कम दिलचस्पी लेती है या उससे संबंधित कम जानकारी रखती है और दूसरी, स्त्री मूक प्रतिवाद करती है। पूरे उपन्यास में सलमा राजनीतिक विषयों में गहरी जानकारी और अभिरुचि रखने वाली तथा लगातार मुखर प्रतिवाद करने वाली स्त्री के तौर पर नजर आती है। कभी धर्मांधता से, कभी

पितृसत्ताक मानसिकता से, तो कभी साम्प्रदायिक विचारबंदी से लड़ती है। धर्मांध शक्तियों के खिलाफ उसके जवाब प्रखर, दो टूक और बुद्धिमत्ता से लैस होते हैं। सलमा के चरित्र की दो विपरीतमुखी खूबियाँ हैं, अदीब के साथ बातचीत के समय वह बहुत ही आवेगप्रवण व संवेदनशील हो उठती है, जबकि कट्टरपंथी शक्तियों के सामने निर्मम और बेबाक। पितृसत्ताक विचारधारा की मुखालफत करते हुए सलमा नईम से कहती है, “आपके कुनबे से छिटक कर, अपनी मर्जी का मालिक कोई भी मर्द आजाद हो सकता है पर औरत को आप अपने कुनबे की जायदाद समझते हैं। अगर किसी हादसे के बाद कोई औरत किसी और कुनबे के मर्द को मंजूर कर ले तो आप लोग बर्दाश्त नहीं करते...।” (पृ. १२०)

लेकिन कमलेश्वर अपनी नायिका को विचारों से सशक्त दिखाते हुए भी आर्थिक तौर पर मजबूत नहीं दिखा पाते। शिक्षित, होनहार और बुद्धिमति होने के बावजूद पूरे उपन्यास में सलमा नौकरी करती नहीं दिखाई जाती यानी उसके पास आर्थिक स्वायत्तता का अभाव है। हालाँकि स्त्री-अस्मिता की प्रतिष्ठा में आर्थिक स्वावलंबन की अहम भूमिका होती है। दूसरी ओर जब सलमा अदीब के साथ प्रेमसूत्र में बंधती है तब वह विधवा हो चुकी होती है। यानी भारतीय नैतिकता के तराजू पर एकदम सटीक बैठती है। भारतीय मान्यता के मुताबिक एक स्त्री पति के रहते पति के अलावा किसी गैर पुरुष से विवाहेतर संबंध नहीं रख सकती, जबकि पुरुष कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र है। यह उपन्यास इस धारणा का अतिक्रमण नहीं कर पाती बल्कि उसे पुख्ता करती है। अदीब विद्या से प्रेम करता है, अपनी पत्नी शांता के अतिरिक्त सलमा से भी प्रेम संबंध जारी रखता है लेकिन सलमा अपने पति की गैरहाजिरी (मृत्यु के उपरांत ही) में ही अदीब के साथ प्रेम संबंध को बरकरार रखती है और जरूरत पड़ने पर उपन्यास के अंत में अपने बेटे के खातिर उसका भी परित्याग कर देती है। स्पष्ट है कि पारिवारिक जिम्मेदारियों के लिए स्त्री को अपना प्रेम भी कुर्बान करना पड़ सकता है। यानी बहुपत्नित्व

तो सही है लेकिन बहुपतित्व नहीं। पुरुष एकाधिक प्रेमिकाओं के रहते हुए भी न्याय-अन्याय पर विचार-विमर्श कर सकता है। लेकिन स्त्री नहीं कर सकती। यौन-शुचिता की तरह यौन-हृदबंदी (एक समय पर एक ही पुरुष के लिए) वाली मानसिकता को कमलेश्वर तोड़ नहीं पाते। कहने का अर्थ यह है कि कमलेश्वर इस उपन्यास में पितृसत्ताक विचारधारा की हृदबंदियों को संपूर्णतः तोड़ नहीं पाते।

कमलेश्वर ने इस उपन्यास में पुंसवादी विचारधारा के साथ-साथ ब्राह्मणवादी विचारधारा पर भी कड़ा प्रहार किया है। वैदिक आर्यों की ब्राह्मणवादी परंपरा को कमलेश्वर ने अप्राकृतिक करार दिया है। जिस निराधार पायदान पर खड़े होकर ब्राह्मणगण अपने श्रेष्ठत्व का जयगान करते हैं, वह कितना अर्थहीन, कल्पित और अवैज्ञानिक है, इसे साफ करते हुए कमलेश्वर ने लिखा है, “...ब्राह्मणों की पत्नियों को भी मासिक धर्म के चक्र से गुजरना पड़ता है। वे भी गर्भवती होती हैं। वे भी बच्चों को जन्म देती हैं, उन्हें दूध पिलाती और उनका पालन-पोषण करती हैं...इतने पर भी यह आर्य ब्राह्मण, जिनका जन्म स्त्रियों

की कोख से होता है, यह दावा करते हैं कि वे ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए हैं....ब्रह्मा के मुख में गर्भाशय नहीं है...।” (पृ. २५६-२५७)

वस्तुतः कमलेश्वर जनतांत्रिक सोच और जनतांत्रिक दृष्टि को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। जनतंत्र में स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक तथा दूसरे पिछड़े तबकों को समानता के अधिकार हासिल हैं, लेकिन हकीकत में वे लगातार उत्पीड़ित व लांछित हो रहे हैं। कमलेश्वर सिद्धांत और व्यवहार के इस बड़े अंतराल को संबोधित करते हैं। आज भी ब्राह्मणवाद, वर्णवाद, पुंसवाद का व्यापक कहर समाज व देश पर हावी है। साम्प्रदायिक समस्याएं आज भी सिर उठा रही हैं। कमलेश्वर जनतांत्रिक दृष्टिकोण से ऐतिहासिक घटनाओं को देखते हैं और जनतांत्रिक दृष्टिकोण से ही उनका निदान प्रस्तुत करते हैं। सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा उसका अंग है। कमलेश्वर मनुष्य को धर्म, लिंग, जाति, नस्ल से ऊपर उठकर समानता के दृष्टिकोण से, विशुद्ध जनतांत्रिक दृष्टिकोण से देखने के पक्षधर हैं और इस उपन्यास के माध्यम से जनता में जनतांत्रिक विवेक निर्मित करने की कोशिश करते हैं।

संपर्क:

अतिथि प्राध्यापक, सेठ आनंदराम जयपुरिया कॉलेज,
१०, राजा नवकृष्ण स्ट्रीट कोलकाता-७००००५, मो. ९८३६२६९८१४

भारतेंदु की मल्लिका : मल्लिका के ज्यू विनय कुमार मिश्र

मल्लिका वह सुगंधि है, जो बंगाल के दरवाजे से भारतेंदु के साथ-साथ आधुनिक आरंभिक हिंदी गद्य को सुवासित करती है। इस लुप्त और गुम होती गमक को सुपरिचित कथाकार मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपने उपन्यास 'मल्लिका' में सहेजकर सहजता से प्रसारित कर दिया है। यह उपन्यास हिंदी संसार में लगभग खो गयी और गुमनाम, लेकिन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तित्व को अल्पज्ञात तथ्यों के सहारे मुकम्मल रूप देने का एक सार्थक और गंभीर प्रयास है।

इस उपन्यास में मल्लिका हिंदी नवजागरण के अग्रदूत भारतेंदु हरिश्चंद्र के वैयक्तिक-साहित्यिक जीवन को अपने तन-मन-धन से कई रूपों में और कई स्तरों पर साथ और सहयोग देती है। भारतेंदु के प्रयाण के बाद उनके प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं को पूरे मन और शिद्दत के साथ सहेजती है। साथ ही अपनी पांडुलिपियों को भी- जिन्हें वह अपने पूज्य प्राणप्रिय 'ज्यू' (हरिश्चंद्र) की प्रेरणा, आज्ञा और प्रसन्नता के निमित्त रची थी। इन सामग्रियों को गोकुलचंद्र (भारतेंदु के भाई) को सौंप कर कहती है- "उनके (भारतेंदु) लिखे ये शब्द जितना फैलेंगे उतना ही महकेंगे। गोकुल जी धन तो भंगुर है। किन्तु यश अमिटये कुछ उनकी और मेरी पांडुलिपियाँ हैं। प्रकाशित हो सकेंगी तो संसार भर में जगमगाएँगी...अब काशी से मुझे विदा दें।" (पृ. १६०) भारतेंदु के रचनात्मक प्रदेय को संजोना, प्रकारांतर से हिंदी को संजोना, संवारना और संजीवनी देना है। मल्लिका का काशी से विदा लेना पलायनवादिता नहीं, बल्कि काशी के रंगमंच पर प्रशासनिक-सामाजिक-वैयक्तिक परिस्थिति-वश अपनी भूमिका को सार्थक रूप देकर, उचित पड़ाव पर समेटना है। बहुमूल्य साहित्यिक धरोहर को संरक्षित और सुरक्षित कर एक ऐतिहासिक उत्तरदायित्व का यथोचित निर्वहन है।

मल्लिका साहित्यिक अभिरूचि संपन्न एक सुसंस्कृत स्त्री है। साहित्य के प्रति गहरी आत्मीयता का कारण यशलिप्सा या अर्थलिप्सा की बजाय सहज और स्वतःस्फूर्त साहित्यानुराग है। वह नेपथ्य में रहना चाहती है और रहती भी है। साहित्यिक सभाओं में भी "मल्लिका को उन संगीत और श्रृंगारिक काव्य गोष्ठियों की बजाय इन गंभीर चर्चाओं में आनंद आने लगा, जहाँ ज्यू देश, भाषा और आम सर्वहारा की बात करते थे, भले ही इन बहसों में कोई निष्कर्ष न निकले।" (पृ. १२४) यही वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे हिंदी नवजागरण की रूपरेखा बनती है। मल्लिका भी नवजागरण की पुरोधाओं में मानी जा सकती है।

मल्लिका ऊँचे विचारों को सिर्फ पत्रों पर ही नहीं लिखती बल्कि जीती भी है। 'बाल विवाह' की तबाही को झेलने वाली मल्लिका 'बाल विवाह' का सर्वत्र विरोध करती है, चाहे वह अपनी भांजी जाह्नवी का विवाह हो या ज्यू हरिश्चंद्र की बेटी विद्या का। इस विरोध को वह अपना कर्तव्य मानती

है। “वह जानती थी कि उसके कहने भर से बच्ची (जाह्नवी) का विवाह तो स्थगित नहीं होगा लेकिन शुभ सलाह देना उसका कर्तव्य था।” (पृ.१७) यह मल्लिका की वैचारिक बेबाकी है और साहसिकता भी।

मल्लिका में साहस है और स्वावलंबन भी, जो उसे आत्मिक रूप से सशक्त करता है। इसी आत्मबल से वह सदियों की संकीर्णता और रुढ़ियों का विरोध करने में समर्थ है। “हाँ, मैंने श्वेतवसन का विरोध किया था और काशी चली आयी थी। यहाँ कोई विधवा आश्रम मेरी शरणस्थली बनता ऐसी भी मैं बेचारी नहीं थी।” (पृ. १०१) मल्लिका के इस दृष्टिकोण का आधार उसकी शैक्षणिक और आर्थिक पृष्ठभूमि भी मानी जा सकती है।

विधवाओं के दुर्दमनीय जीवन से मल्लिका एकदम निस्पृह नहीं है। वह स्वयं विधवा है और विधवा जीवन की नारकीयता, दुखों की दारुण मर्मांतक टीस को देख-सुन कर उसका अंतः डर और दहशत में डूब जाता है। काशी के प्रसिद्ध बुढ़वा मंगल के कार्यक्रम से लौटते हुए, मल्लिका की गृह सहायिका कजरी ने जब एक गली का छोटा रास्ता पकड़ा तब उसे विधवा जीवन के ऐसे ही भयानक दृश्य का साक्षात् हुआ और वह जान पायी कि “बंगाल और उड़ीसा से जो विधवाएँ आती हैं, काशी में उनकी परिस्थितियाँ और जीवन स्थितियाँ कैसी हैं?” (पृ.९५) विधवाओं की स्थिति को देख मल्लिका का मन गहरे दुख और क्षोभ से भर जाता है। बनारस स्टेशन पर पहली बार उतरते ही उसने देखा कि “तीसरे दर्जे के डिब्बे से जवान बंगाली विधवाओं की एक टोली, घुटे हुए सिर पर पोटलियाँ लिए उतरें। पंडों का एक झुंड गंदी नजरों और लालची मनोवृत्ति के साथ उनकी तरफ बढ़ा, मल्लिका के मन में हूक सी उठी। हे ईश्वर.... यह यक्ष्मा राजरोग बन पूरे बंगाल में आतंक मचा रहा है।” (पृ.६३०) विधवाओं के शोषण और समस्याओं को उसने समझा, समानुभूति के स्तर पर उसे महसूस किया और यथासंभव प्रतिकार भी किया।

काशी में विधवाओं की भजन मंडलियाँ कजरी के अनुसार चलती फिरती प्रेतनियाँ थीं। जिनके लिए कजरी

कहती- “मरी गऊओं पर भी जैसे मदमस्त सांड चढ़ जाना चाहता है, वैसे ही पंडे गुसाईं उन पर...” (पृ.१०९) मल्लिका कजरी के इस कथन से दुखित होकर प्रतिवाद करती है। वह विधवा जीवन से विमुख नहीं उसके सीधे सम्मुख है, उसके प्रति संवेदनशील है। जीवन में, विचार में, और साहित्य में।

मल्लिका विधवा और एकाकी जीवन का तीखा दंश झेलते हुए भी अपनी वैचारिकता पर दृढ़ है। दूसरों के जीवन में अतिरिक्त उत्सुकता वाली मध्यवर्गीय मनोवृत्ति उसके मन को खिन्न (आहत) करती है। क्या सचमुच लोगों के पास इतना समय होता है कि वे मल्लिका और उसकी दिनचर्या पर दृष्टि केंद्रित करते हैं।

अफवाहों और प्रवादों के बीच अपनी रूपवान आकर्षक काया के प्रति लोगों की कुदृष्टि उसको व्यथित कर देती है। काशी की गलियों से गुजरते हुए मल्लिका सोचती है कि- “सुतीक्ष्ण सींगों वाली गायों- बैलों से बचकर इस गली में चले आना आसान है। किंतु जो लोलुप संकीर्ण दृष्टियाँ जोंक की भाँति उसकी देह पर चिपकी चली आती थीं उनका क्या उपाय?” (पृ.९०) यह एकाकिनी स्त्री का कटु प्रश्न है, जो सदियों बाद भी उसी तरह बना हुआ है।

उपन्यास में मल्लिका का नैसर्गिक और स्वतःस्फूर्त तार्किक वैचारिक विकास दिखता है। वह किसी की परामुखापेक्षिता या आश्रित बनकर नहीं रहना चाहती। समय के साथ काशी में अपनी एक परिचिति बनाने में सफल होती है। ‘कविता वर्धिनी सभा’ में भारतेन्दु के आमंत्रण को सहर्ष स्वीकारती है, लेकिन पालकी के प्रस्ताव को अस्वीकार करती है। “आमि मानुस्य कोनो लज्जावती गाछ नाहि पालकी पाठान ना (मैं मनुष्य हूँ, कोई लज्जावती पौधा नहीं, पालकी न भिजवाएँ)।” (पृ.७९) यही नहीं उस सभा में हुस्नाबाई द्वारा, “म्लान चंद्रिका को सहारा देकर अच्छा कर रहे हैं ज्यू।” (पृ.८३) की बात पर सवालियाँ आँख दिखाती है। यह स्त्री अस्मिता और स्वावलंबन का स्पष्ट उद्घोष है जो उपन्यास में स्पष्टता से मुखरित हुआ है।

काशी पहुँचने के बाद भारतेंदु हरिश्चंद्र से मल्लिका का परिचय-मित्रता-आत्मीयता सहज प्रेम में प्रकट होती है। उस दौर के काशी के समाज में यह संबंध अलबेला, अनोखा और विशिष्ट है। प्रकारांतर से वह साहित्यिक मित्रता है, मल्लिका को एहसास होता है- “वह सर्वप्रथम विशुद्ध बौद्धिक मित्रता है...यह प्रेम और आकर्षण उन मार्मिक क्षणों की पुकार है।” (पृ. १०१) यह राधा-कृष्ण की परंपरा का सख्योचित प्रेम ही प्रतीत होता है। वे सख्य-भाव में पगे एक दूसरे के अवलंब हैं। मल्लिका हरिश्चंद्र की मित्र ही नहीं मानसिक और आत्मिक औषधि है। वह कहती है- “मैं आपकी रात्रि भर की अभिसार सखि नहीं। मेरी तुष्टि देह से नहीं आपके आत्मिक मिलन से होती है। आप इतना भारी मन लिए आए हैं तो सखि-बांधवी-माँ समझ सब कह सुनाना होगा।” मल्लिका पूरे तन-मन-धन से भारतेंदु के साहित्यिक सपनों-इच्छाओं-आकांक्षाओं के लिए सहयोग करती है, उनकी कमियों खामियों को जानते-पहचानते हुए भी।

उपन्यास में मल्लिका भारतेंदु के स्त्री-संबंधों और संसर्गों पर तीखा और गहरा क्षोभ व्यक्त करती है। डायरी में वह लिखती है- “कैसी है आपकी प्रेम पिपासा कि किसी एक से पूर्ण नहीं होती। आपको पत्नी में प्रेमिका चाहिए, प्रेमिका में एकनिष्ठता...बहुतों द्वारा चूमें गए प्रशस्त ललाट पर यश कब तक इठलाएगा।” (पृ. १२५) यह वस्तुपरक दृष्टि से किया गया आत्मीय मित्र का मूल्यांकन है। यहाँ प्रेम की एकनिष्ठता पर तटस्थता से विचार किया गया है- “प्रेम में एकनिष्ठता की बातें तो बहुत करते हैं और वह एकनिष्ठ प्रेम को प्रेम का उदात्त स्वरूप मानते हैं। मगर एकनिष्ठता केवल स्त्री की पुरुषों के प्रति हो, पुरुष की एकनिष्ठता का क्या?...वे कहते हैं कि केवल मैंने उन्हें संपूर्ण और एकनिष्ठ प्रेम दिया है, इसीलिए मुझसे अगाध प्रेम करते हैं, लेकिन क्या एक संपूर्ण और एकनिष्ठ प्रेम की आवश्यकता मुझे नहीं? एकनिष्ठता पारस्परिक होती है।” (पृ. १४२) यह विचार हरिश्चंद्र के “प्रेम में स्त्री की एकनिष्ठता को महत्व” (पृ. ९९) देने का मुखर प्रतिवाद है।

मल्लिका भारतेंदु के विचारों में अंतर को बारीकी के साथ रेखांकित करती है- “आपको बौद्धिकता के साथ रासरंग भाता है, भाषण में स्त्री को बेड़ियों से उबारने की बात करते हो और अपनी पत्रिकाओं में उन्हें सद्गृहस्थ बनने, पति व्रतोपवास का पाठ पढ़ाते हो। आपके भीतर ये कैसी सामंती प्रवृत्तियाँ हैं?” इन पंक्तियों से गुजरते हुए लगता है कि कोई गंभीर अध्येता भारतेंदु के विचारों का सटीक और गंभीर मूल्यांकन कर रहा है।

उपन्यास में मल्लिका हरिश्चंद्र के प्रेम और सम्मोहन में तो है लेकिन उनका वस्तुपरक विश्लेषण भी करती है। उनके जटिल चरित्र की थाह पाने का प्रयास भी है, जिनमें एक साथ कई व्यक्तियों का समावेश दिखाई पड़ता है- “एक वह जो लेवी पर कटाक्ष करता है, दूसरा कवीन पर गीत लिखता है। एक जो तवायफों को मनुष्य और कलाकार मानता है, दूसरा बालाबोधिनी में मध्यवर्गीय स्त्री को शुचिता और आचरण को संदेश देता है। एक विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा के पक्ष में...एक शुद्ध हिन्दी का पक्षधर, दूसरा रसा उपनाम से उर्दू में शेर कहता है।” (पृ. १२२) यही साफगोई और स्पष्टवादिता मल्लिका की वैचारिकता और व्यक्तित्व को विशिष्ट आयाम देती है। यही ज्यू हरिश्चंद्र को आकर्षित भी करती है। वे कहते हैं- “यही बात तुम्हारी हमें भाती है। मन्ना ने हमेशा खारिज किया। माधवी ने अंधानुकरण किया। तुमने सत्य को सत्य और असत्य को असत्य कहा। मेरे नेत्रों पर बँधी पट्टियाँ कोमलता से खोली। इन विरोधाभासों के साथ प्रेम किया।” (पृ. १२३)

‘माणिक मोहन कुंज’ के प्राचीन मंदिर में हरिश्चंद्र के विशिष्ट अनुनय और भावुकतापूर्ण प्रस्ताव के सम्मुख- “मल्लिका ने अपनी मराल ग्रीवा झुकाकर अपने प्रियतम को वरण लिया।” (पृ. १४३) यह तात्कालिक क्षणिक भावावेग है या मल्लिका का अपने विचारों से विचलन। घर पहुँचते ही, इस अनूठी घटना या विवाह पर मल्लिका की प्रतिक्रिया है- “मैं विधवा थी, अब वधू हूँ, अब मुझे बीते जीवन से कोई आसक्ति या आक्रोश नहीं है। मेरी रात अपनी नहीं, दिन अपने नहीं। गति कुगति अपनी नहीं, मन

अपना नहीं। आज यह पराधीनता भी मोल ले ली। हैरानी देखो कपटी मन एक बार भी चीख न सका, एक बार भी न कहा यह मुझसे न होगा।” (पृ. १४४) इस विशिष्ट गंधर्व विवाह के बाद भी बिताए गए दो वर्षों में मल्लिका के जीवन, दिनचर्या या कार्यशैली में कोई विशेष अंतर नहीं आया। इस संबंध के बाद हरिश्चंद्र ने मल्लिका को धर्मगृहीता माना। कजरी द्वारा सुहागन कहे जाने पर भी प्रश्न उठती है। “सुहागन ? ज्यू कहते हैं धर्मपोषिता... ये सब मन बहलाव के नाम हैं। प्रेम से बड़ा योजक क्या ? बाकी सब तो दासत्व के अलग अलग नाम हैं। ...संसार के लिए वह उसकी पत्नी थी। मगर जिससे मन जुड़ा देह जुड़ी और फिर आत्मा जा जुड़ी, उस रिश्ते में। वह उसकी कोई नहीं थी।... फिर रक्षिता से थोड़ा कोमल, थोड़ा संभ्रांत नाम खोजा गया, क्योंकि वह ‘धन पोषिता’ तो नहीं थी तो ‘धर्म गृहीता’ हो गई।” (पृ. १३-१४) स्वावलंबी मल्लिका के लिए यह नाम खोजा गया। मल्लिका की दृष्टि में इस लगाव, जुड़ाव, आत्मीयता का सर्वोपयुक्त नाम प्रेम है इससे इतर कुछ भी नहीं।

मल्लिका की वैचारिकता और अस्मिता का विकास बहन शेफालिका, भाई बंकिमचंद्र की पत्नी राजलक्ष्मी, काशी की प्रसिद्ध गायिका-नृत्यांगना माधवी, हुस्नाबाई, भारतेंदु की पत्नी मन्नो देवी जैसी स्त्री पात्रों की अनावश्यक ईर्ष्याओं और प्रतिस्पर्धाओं के बीच भी निखरता है। शेफालिका के व्यंग्य और तंज भरे उपदेशात्मक संवादों को सुन मल्लिका के अपनी बहन के सीमित सोच और संसार पर दया आती है। उसका तार्किक मन यही सोचता है कि “आनंद क्या बस महंगे वस्त्र, गहने और अमीर पति के स्वामित्व में ही है ?” (पृ. १०९) स्वतंत्र विचारों वाली मल्लिका एक क्रीत दासी का जीवन नहीं जीना चाहती।

मल्लिका की तार्किकता सरल, सपाट और एकपक्षीय नहीं है। उसके विचार बहुकोणिक और बहुआयामी हैं। भारतेंदु और उनकी पत्नी मन्नो देवी के संबंधों के शिथिलता के कारणों को खोजते हुए- “मल्लिका एकक्षण को मन्नो की स्थिति में स्वयं को रखकर कल्पना करने लगी कि

उसका स्वामी वैश्यागमन करता हो, चाहे वे उसे उन तहजीबदार तवायफों का रसमय और संगीतमय सान्निध्य कहें। बिना देह प्रसंग के। किंतु है वह समाज के अनुसार अनैतिक ही। उस पर उनका मानना कि समृद्ध परिवारों में यह स्वीकार्य है।” (पृ. १३७) उसके बाद उसका यह निष्कर्ष कि “निस्संदेह मैं भी कटु व्यवहार की हो बैठूं।” यह मल्लिका की वस्तुपरक तार्किकता है जो पूर्णतः मन्नो देवी की मनोभूमि और दृष्टिकोण के साथ दृढ़ता से खड़ी और जुड़ी है।

संभवतः पहली बार इसी उपन्यास में मन्नो देवी (भारतेंदु की पत्नी) के चरित्र को नया आयाम मिला है। मन्नो देवी की कटुक्तियों को सुनते हुए भी, मल्लिका की पूरी सहानुभूति मन्नो देवी के प्रति है। यह उपन्यास गहरे अर्थों में मल्लिका के साथ ही मन्नो देवी के मनोभाव को पूरी आत्मीयता और संवेदना के साथ नई दृष्टि और नए कोण से देखता और दिखाता है।

ऐतिहासिक रूप से मल्लिका और भारतेंदु हरिश्चंद्र के संबंधों से संबंधित जो सूचनाएं और तथ्य उपलब्ध हैं, उनमें इन दोनों की एक तस्वीर है, यही तस्वीर इस उपन्यास का आवरण चित्र भी है। इस तस्वीर की कई व्याख्याएं की गईं, जो उनके संबंधों और व्यक्तित्व को कई रूपों में स्पष्टीकृत करती हैं। कथा लेखिका के अनुसार इस तस्वीर की व्याख्या है- “जहां ज्यू एक तिपाई पर बैठे हैं, मल्लिका कुर्सी पर कोहनी मुड़ी है और अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को तिरछा कर वे ज्यू को देख रही है। मिसवाक लगे में एक अदृश्य स्मित है तो प्रच्छन्न क्रोध भी।” (पृ. १४८) यह व्यंग्य भरी तीखी मुस्कान और अप्रत्यक्ष नाराजगी भारतेंदु के विरोधाभासों पर है और समाज पर भी। वह समाज जहाँ हर कायदे, अनुशासन, आदर्श पुरुष के पक्ष में है। कलंक भी स्त्री पर ही लगता है। स्त्री अकेली है तो कलंक लगने की संभावना प्रबल होती है। मन्नो देवी मल्लिका को समझाती हैं- “ये तो पुरुष है उस पर व्यसनी। इनका तो कुछ नहीं बिगड़ता, दस कालिख लगी है एक और सही तुम कुलीन परिवार

की बाल विधवा हो, तुम पर कलंक लगेगा, अगर आए दिन ये तुम्हारा जीना चढ़ेंगे। मैं तो रोक नहीं सकी इन्हें।... बुरा लगता है, लोग बिना जाने बूझे तुम्हें कलंकित करते हैं। अभी तुम्हारा जीवन है, एक बार नाम खराब हुआ तो देखा-देखी और पुरुष सांकल खटकाएँगे।” (पृ. १३९) यह समाज का नजरिया है जो आधी-अधूरी जानकारी पाकर ही स्त्री को कलंकित करता है। मल्लिका इसी समाज से जूझते अपने विचारों के प्रति प्रतिबद्ध है। उसका जीवन, व्यक्तित्व, विचार और कार्य, नयी ऊर्जा और नयी चेतना प्रदान करता है।

मल्लिका का साथ हरिश्चंद्र के मन और जीवन को नयी गति, नया लय और नयी ताजगी से भर देता है। “आजकल मेरी सूरत देखकर ही लोग समझ जाते हैं कि मैं आज किसी जहनुम से नहीं किसी जन्नत से आ रहा हूँ। जब मैं तुम्हारे यहाँ से लौटता हूँ.....मैं बेहतर मनुष्य बन जाता हूँ। सबसे हँसकर बात करता हूँ।” (पृ. ८६) मल्लिका और हरिश्चंद्र का संबंध स्नेह और प्रेम में भींगकर संकीर्णता और विषाद को दूरकर साहित्यिकता की ऊर्वर भूमि निर्मित करता है। जहाँ “विषाद के सारे आवरण को त्याग एक मल्लिका के भीतर एक नयी मल्लिका निकल आई।...पुरवैया के झोंकों से शतावरी लता तरंगित थी।...वह अपने डेस्क पर बैठ गयी, नए कोरे कागज निकाल.. संज्ञा के खोए तंतुओं को समेटकर, मन का समूचा रस उड़ेलकर

एक प्रेम पद रचा, फिर दूसरा, ऐसा करते-करते दस पद रच डाले।... आह! कितना सुंदर अनुभव है, इस प्रेम की तरंग में बहकर अपने आपको खो देना।” (पृ. १३४)

हरिश्चंद्र और मल्लिका का साथ, स्नेह, सख्यबोध और साहित्यिकता प्रेम का ऐसा मानक रचता है, जिसे देखने और दिखाने के लिए नयी दृष्टि और नया दृष्टिकोण चाहिए। इस प्रेम की परिपाटी का तेवर और कलेवर एकदम भिन्न, अनूठा और व्यतिरेकी है। हरिश्चंद्र कहते हैं— “मल्लिका... कितना भी दुख हो उसे सुख मानना। जगत से व्यतिक्रम रचा है तुमने। मेरी पुस्तकों के लिए अपनी संपत्ति छापेखाने में गवाँकर तुमने प्रेम की टकसाल ली है। क्या हुआ खल लोग तुझे मेरी आश्रिता कहते रहें... तुझे इससे क्या, तेरा प्रेमी और तू जिसकी सरबस है.... उसने तुझे धर्मगृहीता माना है। देखना आगे-आगे ऐसे लोग भी उत्पन्न होंगे जो तेरा नाम आदर से लेंगे। मेरी और तेरी जीवन पद्धति समझेंगे। इस प्रेम के दर्शन को मान देंगे।” (पृ. १५२) इसी नजरिए के अनुरूप यह रचना, हिन्दी साहित्य में मल्लिका की भूमिका, उपस्थिति और अनुगूँजों को पूरी संवेदना के साथ रचती है। हिन्दी जगत भारतेन्दु की मल्लिका से परिचित है, लेकिन यह रचना मल्लिका को ज्यू से भेंट कराती है। इस रचाव में मल्लिका के साथ-साथ भारतेन्दु हरिश्चंद्र का एक नया रूप भी पूरी पारदर्शिता के साथ मौजूद है।

संदर्भ: इस लेख के सभी उद्धरण मनीषा कुलश्रेष्ठ के उपन्यास ‘मल्लिका’ से लिए गए हैं।

संपर्क: ६/१, क्षेत्र चटर्जी लेन, सालकिया, हावड़ा- ७१११०६, मो. ९७४८०८५०९७

इंक्लाब पुस्तकों से होकर गुजर रहा है

डॉ. राणा प्रताप

एक बार मैं एक शिष्य के बारे में रेखाचित्र बनाना चाहता था। शीर्षक भी सोच लिया था, 'इंक्लाब पुस्तकों से होकर गुजर रहा है'। इसमें कोई ऐसी बात नहीं होने वाली थी जो भगत सिंह अथवा आजाद के चेहरे से मिलती-जुलती हो। मैंने सोचा था इसका विषय बनाऊँगा एक ऐसे किताब बेचने वाले की दशा से जिसे किताब बेचने और छापने का ख़ब्त था। और उससे भी बड़ा ख़ब्त था किताबों को जनता के हाथों तक पहुँचाना।

इस ख़ब्त के कारण वह पटना, दिल्ली और काठमांडू की दूरी अपने छोटे-छोटे पांव से शीघ्र ही नाप लेता। गांव की तो ख़ैर बात ही छोड़िए। गांव बिना शहर कहाँ? शहर बिना नींद कहा? 'हिरावल' के नौजवान रंग-कर्मियों एवं गायकों को वह कितना प्यार करता था। उन लोगों के लिए उन्होंने नेपाल से श्याम तमोट का गीत लाया था।

कितना सुंदर गीत था वह—

गाँव-गाँव से उठो, बस्ती-बस्ती से उठो

इस देश की सूरत बदलने के लिए उठो।

हाथ में जिसके कजान हो, कलम ले के उठो

बाजा बजाना जानने वाले बाजा ले के उठो।

हाथ में जिसके औजार हो, औजार ले के उठो

पास में जिसके कुछ भी नहीं, आवाज़ ले के उठो!

यह नेपाली गीत 'गाँव-गाँव बाँटे उठो, बस्ती-बस्ती बाटे उठो' का हिंदी रूपांतरण था। एन.जी. वैद्य को हिंदी नहीं आती थी और मुझे नेपाली नहीं। बावजूद इसके हम दोनों ने मिलकर इस गीत को इतना सहज बना दिया कि यह गीत जनता की जुबान पर सहज ही चढ़ गया। सच, क्रांति के काम में कोई भी मुश्किल तुरंत-फुरत में हो जाती है।

दरअसल निरंजन गोविंद वैद्य की काठमांडू के भोटाहिटी में एक किताब की दुकान थी, 'प्रगतिशील पुस्तक भंडार'। वैद्य जी उस दुकान के मालिक तो थे ही, एक कार्यकर्ता से लेकर पीर-बावर्ची, मिस्त्री-खर सब थे। मगर क्या मजाल कि चेहरे पर थकान के कोई चिह्न प्रकट हो। हमेशा हँसता-मुस्कुराता चेहरा और दोस्ती के लिए आगे बढ़ा हुआ नर्म मुलायम हाथ। उन हाथों में कितनी गर्मजोशी हुआ करती थी। आज उस बात को सोचकर रोमांचित हो उठता हूँ कि उन्हीं हाथों से गुजरकर मेरे पास माओत्से तुंग का संपूर्ण वाल्यूम और लू थुन का पूरा सेट आया था जो आज भी मुझे गर्मजोशी

से भर देता है। एक हाथ पुस्तकें बढ़ाता है, दूसरा हाथ उसे ग्रहण करता है। सच, पुस्तकें कितनी प्यारी और प्राणवान होती हैं!

गोर्की ने ठीक ही कहा है, “केवल उन पुस्तकों को प्यार करो जो ज्ञान का स्रोत हों, क्योंकि सिर्फ ज्ञान ही वंदनीय होता है, ज्ञान ही तुम्हें आत्मिक रूप से मजबूत, ईमानदार और बुद्धिमान, मनुष्य से सच्चा प्रेम करने लायक, मानवीय श्रम के प्रति आदरभाव सिखाने वाला और मनुष्य के अथक एवं कठोर परिश्रम से बनी भव्य कृत्यों को सराहने लायक बना सकता है।”

दरअसल, वैद्य जी बच्चों की एक किताब लेकर पटना आए थे, ‘भूतों से न डरने वाली कहानियाँ’। यह पेकिंग प्रकाशन की एक छोटी-सी पुस्तक थी। भाई जी ने इसका अनुवाद किया था। बच्चों के लिए खासतौर से दिलचस्प और मनोरंजक। उन्होंने इस किताब को हिंदी में छपवाया था। पटना में उनके परिचित थे, मैथिली के क्रांतिकारी कवि अग्निपुरुष। पटना में महीने, दो महीने रहने की समस्या थी और ‘भूतों से न डरने वाली कहानियाँ’ थीं। पुष्पजी ने मुझसे सलाह मांगी, क्या किया जाए? मैंने कहा, “चलिए, समस्या हल हो गई। उन्होंने पूछा, कैसे? मैंने कहा, “सिर्फ आर्या से पूछना पड़ेगा। आर्या अभी महेंद्रू वाले ‘हरिजन हॉस्टल’ के सुपरिंटेंडेंट हैं। काफी जगह है वहाँ। फिर भिखना पहाड़ी बंधुजी वाला प्रेस भी है।” और सच समस्या चुटकी बजाते हल हो गई।

‘भूतों से न डरने वाली कहानियाँ’ सचमुच में दिलचस्प थी। हो लि-फांग ने इस किताब की भूमिका लिखी थी। उन्होंने लिखा था, “इकतालीस साल पहले, जब चीन में शैतानों का जोर था और दैत्य दुर्दांत हो गए थे, तो स्यांग-स्यांग रिव्यू ने जिसके संपादक कामरेड माओत्से तुंग थे, अपने पहले ही अंक में जनता के लिए एक संदेश प्रकाशित किया, “तुम्हें किसी चीज से नहीं डरना चाहिए। देवताओं से मत डरो, भूतों से मत डरो, मौत से मत डरो, नौकरशाहों, युद्ध-सामंतों या पूँजीपतियों से मत डरो।”

यह बेबाक भावना कितनी प्रेरणादायक है। उन सभी मार्क्सवादियों को और उन सभी क्रांतिकारियों को जो अपने इस दुनिया को बदलने की जिम्मेवारी लेते हैं, इस ऊँची भावना और क्रांतिकारी हिम्मत को अपनाना चाहिए। उन्हें पूरी तौर से अंधविश्वासों को खत्म करना चाहिए, अपने मन-मस्तिष्क को मुक्त करना चाहिए और कठोर संकल्प वाला इंसान बनना चाहिए जो किसी से बिल्कुल न डरे, जो तेज-तरार और हिम्मती दोनों हो, आसमान कैपा देने वाली इच्छा शक्ति और विश्लेषणात्मक भावना दोनों के साथ।”

मुझे किताबों से प्यार है। मैं अक्सर बहुत बड़े घर का सपना देखता था जिसमें बहुत सारी किताबें हैं और मैं वहाँ आराम से शांतिपूर्वक रहता हूँ। कोई खलल नहीं, कोई शांतिभंग करने वाला नहीं। सिर्फ अध्ययन चिंतन और मनन!

उस बौद्ध भिक्षु ने क्या कहा था? सिर्फ इतना ही तो कि ‘पुस्तकों में सत्य का वास होता है, उसे मत जलाओ।’ बख्तियार खिलजी के सैनिकों ने उसकी हत्या कर दी। अचानक उन्हीं सैनिकों के दिलों में भय की अनुभूति रेंग गई। शायद, उस बौद्ध भिक्षु की हत्या अकारण ही हो गई थी। उसने गलत तो कुछ भी नहीं कहा था।

“यह किस तरह की पुस्तकें हैं? एक सैनिक ने पूछा, दूसरे ने जवाब दिया, “कौन जाने?” “सुनते हैं, पुस्तकें क्रुद्ध होकर बदला भी ले सकती हैं।”

सहसा एक मोटी-सी पुस्तक आग की लपटों से बाहर उछलकर दूर जा गिरी। दोनों सैनिक डर कर थोड़ा पीछे हट गए।

एक ने कहा, “पुस्तक क्रुद्ध हो गई है।” “नहीं, पुस्तकें नहीं जलानी चाहिए।” “सचमुच, पुस्तकें भी बदला ले सकती हैं,” दूसरे सैनिक ने कहा।

कहने का आशय यह है कि शासक वर्गों तथा आक्रांताओं के सामने सिर्फ राजनीति का प्रश्न नहीं होता। कला, साहित्य और संस्कृति पर हमला करना, पुस्तकों को जला देना और नष्ट कर देना भी एक महत्वपूर्ण काम है। रोम साम्राज्य जब किसी देश व राज्य पर हमला

करता था तो विजित राज्य में अपने पीछे लैटिन भाषा को छोड़ कर जाता था। अंग्रेज भी जहाँ-जहाँ गए उसकी अंग्रेजी भी आज तक राज कर रही है। अतः पंत ने कितना सही कहा था-

राजनीति का प्रश्न नहीं रे, आज जगत के सम्मुख

एक वृहद सांस्कृतिक समस्या, जगत के निकट उपस्थित।

हमारे कामरेड लोग संस्कृति को सुपर स्ट्रक्चर की चीज बताकर उसे दोयम दर्जे पर रखने के आदी हो चुके हैं। जबकि उन्हें मालूम होना चाहिए, संस्कृति की स्वतंत्र यूनिट की तरह अपना प्रभावशाली व्यक्तित्व धारण कर व्यक्ति और समाज पर गहरा असर छोड़ती है। इस मामले में रूपंकर कला की सभी विधाएं व्यक्ति व समाज पर अपना प्रभाव डालती है। इसलिए इसे कम करके आँकना गलत सोच का परिणाम है। गोर्की ने संस्कृति को 'दूसरी प्रकृति' कहा है।

हाँ, तो मैं एन.जी. वैद्य की बात कर रहा था। वैद्य जी क्या सिर्फ पुस्तक विक्रेता थे या संस्कृति के संपूर्ण संवाहक? रेमंड विलियम की माने तो एक जिल्दसाज व कला-कृतियों के संग्राहक भी संस्कृति में कुछ न कुछ जोड़ता होता है। संस्कृति के क्षेत्र में उसकी भी भूमिका होती है। एन. जी. वैद्य को तो काठमांडू जाकर अपनी आँखों से देखा था। अवसर 'नेपाल-चीन सांस्कृतिक परिषद' की ओर से किताब, फोटो, बुडकट और फिल्म प्रदर्शनी का था। समारोह राष्ट्रीय सभागृह, काठमांडू में आयोजित किया गया था। देखा, चीनी संस्कृति कितनी ऊँची और समृद्ध हो गई है। विभिन्न विषयों पर लेखकों और चिंतकों की किताबें, फोटो, कार्ड, ग्रीटिंग कार्ड, पेपरकट आदि का आकर्षक उत्पादन। फिल्मों में 'सांग ऑफ स्पैरो'

जहाँ खूबसूरत फिल्म थी, वहाँ 'चमकता लाल सितारा' प्रभावशाली और प्रेरणादायक। ब्लैक एण्ड व्हाइट रेशमी धागों से बुना मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन एवं माओत्से तुंग की तस्वीर तो देखने लायक थी। तब मैंने इसे एक 'प्रेरक प्रसंग' कहा था।

इस प्रेरक प्रसंग को सफल बनाने में जितना योगदान 'नेपाल-चीन संस्कृति परिषद' के अध्यक्ष मोनिहार्ष ज्योति का था, उससे कम एन.जी. वैद्य का न था। बल्कि उनकी बीवी-बच्चे भी रात-दिन एक किए हुए थे। लाल परचम को लहराने वाले इस परिवार को क्या कभी भूला जा सकता है?

अन्यत्र मैंने लिखा है, "चूंकि एक विशेष अर्थ में संस्कृति को दूसरी प्रकृति भी कहा जाता है, इससे इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है। जल, वायु, वनस्पतियों, जीवों और खनिजों का प्रयोग तो मनुष्य शारीरिक क्रिया द्वारा कर लेता है, लेकिन प्राकृत परिवेश के साथ मानव के दूसरे प्रकार के संबंध पूरी तरह से उसकी लक्ष्यबद्ध सक्रियता अर्थात् श्रम के माध्यम से बनते हैं। दूसरे शब्दों में यह संबंध श्रम द्वारा व्यवहृत होते हैं। इन संबंधों का मर्म यह है कि लोग उस चीज की रचना करते हैं तो प्रकृति में तैयार रूप से नहीं है। ऐसा वे विशेष लक्ष्यबद्ध उत्पादन कार्यकलाप की मदद से करते हैं, जो प्रकृति की विभिन्न सामग्री को मनुष्य की निश्चित आवश्यकताओं के अनुरूप बनाता है। प्रकृति के साथ सह संबंध की यह लक्ष्यबद्ध विधि केवल मानव के लिए या सही-सही कहा जाए तो मानव समाज के लिए लाक्षणिक है। इस सक्रियता का परिणाम हैं 'मानवीकृत प्रकृति' का प्रकट होना, जिसमें स्वयं मनुष्य की प्रकृति भी आती है। गोर्की के शब्दों में "श्रम द्वारा निर्मित यह 'द्वितीय प्रकृति' ही सच्चे और सही अर्थ में संस्कृति है।"

संपर्क: बंगाली कॉलोनी, पोस्ट-बेगमपुर, पटना सिटी-८००००९, मो. ९२३४७६३१६८

स्त्री की दृष्टि में स्त्री और समकालीन हिंदी कविता

दुर्गावती प्रसाद

रघुवीर सहाय के शब्दों में— “समकालीनता मानव-भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है। समकालीन कविता के माध्यम से देश की एक तिहाई जनता (स्त्री, दलित, आदिवासी, मजदूर-किसान) जो सदियों से दबी-कुचली थी, समाज में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराती हैं। साहित्य में विभिन्न विमर्श (आदिवासी, दलित, स्त्री विमर्श) के आने का मुख्य कारण यह भी है कि जो लोग सदियों से शोषित और अवहेलित हैं उन्हें भी मुख्यधारा से जोड़ा जाए उन्हें भी वह अधिकार एवं समानता प्राप्त हो जो सामान्य सभी लोगों को प्राप्त है।

साहित्यकार समाज का चेतस व्यक्ति होता है। अतः वह समाज की सभी समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाता है। समकालीन कवि एवं कवयित्रियों ने भी सभी समस्याओं पर लेखनी चलाई। इसमें स्त्री जीवन की समस्याएँ, स्त्री के अस्तित्व, स्त्री के अधिकार, स्त्री की गरिमा, मान-सम्मान की बात उठाई गई है।

समकालीन हिंदी कवयित्री कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, अनामिका, सविता सिंह और मनीषा झा की कविताओं में समकालीन जीवन की विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया गया है। इनकी कविताओं में प्रकृति, पर्यावरण, बाजारवाद, मानवीय संवेदनाओं की अनुभूतियाँ, रिश्तों की स्मृतियाँ, स्त्री मन का चित्रण, स्त्री जीवन की समस्याएँ, स्त्री के अस्तित्व, स्त्री की गरिमा, मान सम्मान की बात उठाई गई है। इस लेख में इन सभी कवयित्रियों की कविताओं में स्त्री जीवन एवं स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर विचार प्रस्तुत किया गया है।

समकालीन कवयित्री कात्यायनी की कविताओं में स्त्री जीवन की समस्याओं के चित्रण के साथ-साथ स्त्री को जागरूक और आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा मिलती है। इनके प्रमुख काव्य संग्रहों में सात भाइयों के बीच चंपा, इस पौरुषपूर्ण समय में, जादू नहीं कविता, फुटपाथ पर कुर्सी इत्यादि हैं।

‘सात भाईयों के बीच चंपा’ नामक कविता में कवयित्री स्त्री की संघर्षशीलता बड़े ही यथार्थ ढंग से चित्रित करती है। स्त्री हर परिस्थितियों का मुकाबला करती हुई निखर कर समाज के सामने आती है। चंपा के माध्यम से कवयित्री ऐसी स्त्री का चित्रण करती है जिसे समाज ने अनुकूल वातावरण नहीं दिया फिर भी वह स्त्री समाज के लिए अत्यंत उपयोगी साबित होती है—

“ओखल में धान के साथ/ कूट दी गई /भूसी के साथ कूड़े पर/फेंक दी गई।/ वहां अमरबेल बनकर उगी।”

कवयित्री व्यवहारिक रूप से स्त्री मुक्ति चाहती है ना कि सैद्धांतिक रूप से केवल बसों में। 'वर्षों से बेहतर है मानसून' कविता में कवयित्री इस बात का समर्थन करती हैं कि स्त्री को अपने स्वानुभूति पीड़ा को संघर्ष का हथियार बनाना चाहिए। उसे केवल बहसों का आदि होकर नहीं रह जाना है। नीलेश रघुवंशी कात्यायनी की तरह ही स्त्री विमर्श को सिद्धांतों में नहीं चाहती कि भाषण दे दिया गया और हो गया विमर्श। बल्कि इस विमर्श में प्रत्येक वर्ग की स्त्रियों की सहभागिता हो और हर वर्ग की स्त्री मुक्त हो सकें, इससे जुड़ सकें। आज भी आम स्त्री इससे जुड़ नहीं पाई है। उन स्त्रियों के लिए मुक्ति एक सपने के समान है। स्त्री विमर्श, स्त्री मुक्ति तभी सार्थक होगा जब सभी वर्ग की स्त्रियाँ इसमें शामिल हों और मुक्त हों। स्त्री विमर्श नामक कविता में नीलेश रघुवंशी कहती हैं—

“मिल जानी चाहिए अब मुक्ति स्त्रियों को/आखिर कब तक विमर्श में रहेगी मुक्ति.../सिर पर तगाड़ी लिए दसवें माले की ओर जाती /जो कामगार स्त्री निपटाओ बखूबी अपने सारे कामकाज /होने दो मुक्त अभी समृद्ध संसार की औरतों को /फिलहाल संभव नहीं मुक्ति सबकी।”

कवयित्री अपनी कविता के माध्यम से पुरुष मानसिकता का चित्रण भी करती हैं जहाँ स्त्रियों को पुरुष से कमतर आंका जाता है। 'प्रार्थना', 'वह हमें हमारे वजूद की याद दिलाते हैं', 'एक अंधेरी भीड़' ऐसी ही कविताएँ हैं। 'एक अंधेरी भीड़' नामक कविता में कवयित्री स्त्री अस्तित्व की तलाश करती नजर आती है। वहीं 'रात में संतरी' कविता में कवयित्री देश के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न वर्ग की स्त्रियों की दयनीय एवं शोचनीय स्थिति का चित्रण करती हैं जहाँ स्त्री को मात्र भोग विलास की वस्तु के रूप में देखा जाता है।

स्त्री अपनी पूरी जिंदगी घर परिवार की जिम्मेदारी उठाते हुए घर परिवार के लोगों के सपने पूरा करने में लगा देती है। सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी इच्छा, अपने सपनों को दबाती चली आ रही है। 'हॉकी खेलती लड़कियाँ' कविता में स्त्री की इच्छा एवं उस इच्छा को

पूरा न कर सकने की बेबसी का सुंदर चित्रण किया गया है साथ ही स्त्री मुक्ति की पहल भी की गई है। स्त्रियाँ संघर्ष के लिए तैयार हो रही हैं कवयित्री कहती हैं— “खेल रही है हॉकी / खुश है लड़कियाँ फिलहाल खेल रही है /कोई डर नहीं/ पर शाम है कि होगी ही/ और स्टिक लटकाए हाथों में एक भीषण जंग से निपटने की तैयारी करती लड़कियाँ लौटेगी घर।”

प्राचीन काल से पौराणिक एवं धार्मिक ग्रंथों ने स्त्री को बंधन में जकड़ने का काम किया क्योंकि इन सभी ग्रंथों की रचना पुरुषसत्तात्मक समाज व्यवस्था द्वारा की गई। इन ग्रंथों के माध्यम से कात्यायनी स्त्री दशा का चित्रण करने के साथ ही स्त्री मुक्ति की पहल भी करती है। 'अपराजिता', 'वह रचती है जीवन और...' ऐसी ही कविताएँ हैं। कहा जाता है स्त्री के लिए मातृत्व सबसे बड़ा सुख होता है परंतु यह मातृत्व, सौंदर्य, प्रेम सभी चीजें स्त्री के निर्णय लेने की क्षमता उसकी स्वतंत्रता के बिना अधूरी है— “नारी की रचना हुई /मात्र वंश चलाने के लिए.../ वह कौन -सी चीज है /जिसके बिना सब कुछ अधूरा है।/ प्यार भी, सौंदर्य भी, मातृत्व भी, /प्रतिध्वनि गूँजती है। आजादी!!! आजादी!!! आजादी!!!”

'इस स्त्री से डरो', 'देह न होना' कविताओं में स्त्री मुक्ति की एक नई दृष्टि देखने को मिलती है जहाँ स्त्री मुक्ति केवल स्त्री तक न सीमित होकर मानव मात्र की मुक्ति की बात करती है— “उससे पूछो /पिंजड़े के बारे में पूछो /वह बताती है नीले अनंत विस्तार में /उड़ने के रोमांच के बारे में।”

इन सभी कविताओं को देखते हुए ए. अरविदाक्षन कात्यायनी के कविताओं के बारे में लिखते हैं— “कात्यायनी की इन समकालीन कविताओं में नारी अथवा नारी मुक्ति वादी दृष्टि है, स्त्री को स्त्री तक सीमित करने की दृष्टि नहीं। वह एक सीमित कटघरा नहीं है। मात्र लिंग संदर्भी वर्चस्व से स्त्री को मुक्त करने की इच्छा ही उनमें प्रस्फुटित नहीं होती, बल्कि मानव -मात्र को मुक्त करने की सांस्कृतिक दृष्टि के रूप में ही उनकी इन कविताओं में नारी मुक्ति वादी दृष्टि विकसित हुई है।”

कवयित्री स्त्री जीवन की समस्याओं का चित्रण करने के साथ-साथ स्त्री चेतना जगाने का काम भी अपनी कविताओं के माध्यम से करती हैं। स्त्रियों की दयनीय स्थिति के लिए कहीं ना कहीं स्वयं स्त्री भी जिम्मेदार हैं। इसके लिए स्वयं स्त्री को भी जागरूक और आत्मनिर्भर होना होगा। 'नहीं हो सकता तेरा भला' नामक कविता में कवयित्री स्त्री को फटकार लगाती हैं स्त्री को घर परिवार के चारदीवारी से निकलकर देश समाज और समय के साथ कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है- "बेवकूफ जाहिल औरत / कैसे कोई करेगा तेरा भला ?/यह औरत तो बस भात रौध सकती है /और बच्चे जन सकती है/ इससे भला कैसे मुक्त किया जा सकता है।"

कवयित्री आज की चेतनशील स्त्री का भी चित्रण करती हैं। जो सही गलत का ज्ञान रखती है। वह गुलामी और स्वतंत्रता के महत्व को जानती है। 'इस स्त्री से डरो', 'भाषा में छिप जाना स्त्री का' ऐसी ही कविताएं हैं। 'भाषा में छिप जाना' कविता में स्त्री चेतनशीलता का चित्रण मिलता है। जब व्यक्ति को भाषा का ज्ञान हो जाता है तो वह भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करता है और शिक्षा के माध्यम से अपने अतीत, वर्तमान, भविष्य का ज्ञान प्राप्त करता है। स्त्री भी भाषा के ज्ञान का महत्व जान गई है। वह भी शिक्षित हो रही है। स्त्री भी गलत सही का निर्णय ले सकती है। अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ सकती है। कवयित्री कहती है- "ना जाने क्या सूझा/ एक दिन स्त्री को/ खेल-खेल में भागती हुई/ भाषा में समा गई / छिप कर बैठ गई। उस दिन /तानाशाहों को नींद नहीं आई रात भर।"

कात्यायनी की कविताएं स्त्री जीवन की यथार्थ तस्वीर खींचती हैं। स्त्रियों को जागरूक और आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देती हैं।

समकालीन हिंदी कविताओं में, नीलेश रघुवंशी के काव्य-संग्रहों में 'घर निकासी', 'पानी का स्वाद', 'खिड़की खुलने के बाद', 'अंतिम पंक्ति में' इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। इनकी कविताओं में जहां एक तरफ स्त्री जीवन का चित्रण

मिलता है वहीं दूसरी तरफ आमजन की समस्याओं का चित्रण भी देखने को मिलता है।

कवयित्री समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति का चित्रण करती हैं। भारतीय संविधान द्वारा प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष सभी को समानता का अधिकार प्राप्त है। परंतु वास्तव में स्त्री को समानता का अधिकार प्राप्त नहीं है। आज २१ वीं शताब्दी में भी समाज में स्त्री के प्रति मानसिकता में बदलाव नहीं हुआ है। आज भी समाज में स्त्री के प्रति पारंपरिक सोच ही व्याप्त है। स्त्री के प्रति पारंपरिक सोच है कि वह घर के चारदीवारी में रहे घर का कामकाज उसकी प्राथमिकता मानी जाती है। इसलिए वह इस दायरे से बाहर निकलकर कुछ करना चाहती है। तो उसे समाज द्वारा अनेक प्रकार के व्यंग्य का सामना करना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि आज स्त्री घर से बाहर नहीं निकल रही है परन्तु उसे समाज के ताने सहना पड़ता है। कवयित्री 'कविता लिखने वाली लड़की' कविता में स्त्री के प्रति समाज में व्याप्त ऐसी ही धारणा को व्यक्त करती- "जब कभी कविता लिखती है लड़की/ कहा जाता है सीखो मशीन चलाना.../ सीखो घर के सारे कामकाज /और इन सब से बच जाए समय तो कर लेना कविता वविता।" अनामिका की कविता 'बेजगह' में भी कवयित्री अनामिका इसी धारणा को व्यक्त करती हैं। जहाँ समाज में स्त्रियों की जगह दूसरे स्थान पर और घर गृहस्थी पहली प्राथमिकता मानी जाती है।

आज २१ वीं शताब्दी में जहाँ सभी लोग सभ्य होने का दंभ भरते हैं वहीं कन्या भ्रूण हत्या और कन्या के जन्म होने पर नवजात कन्या को मारने जैसा जघन्य कुकृत्य होता है। जिस माँ ने कन्या को जन्म दिया वह जीवन भर गहरी चिंता उदासी में रहने के लिए विवश हो जाती है वहीं लड़के के जन्म पर खुशियाँ मनाई जाती है। 'चबूतरा', 'संबोधन' इन्हीं समस्याओं को लेकर लिखी गई कविताएं हैं। कवयित्री 'आशा मिश्र' को संबोधित करके लिखी गई कविता 'संबोधन' में कन्या भ्रूण हत्या की सच्चाई उजागर करती है साथ ही पुरुष मानसिकता का चित्रण भी करती

हैं। पुरुषसत्तात्मक समाज व्यवस्था को कायम रखने में जितना हाथ पुरुषों का है उससे ज्यादा हाथ उन स्त्रियों का है जो पुरुष मानसिकता को लेकर चलती हैं। कवयित्री स्त्री को इस मानसिकता से बाहर निकलने और सावधान रहने की चेतावनी देती है- “एक स्त्री ने स्त्री को जन्म दिया/ एक स्त्री ने स्त्री को जमीन में गाड़ दिया। पितृसत्ता का कैसा भयानक कुचक्र कि /स्त्री ने स्त्री का समूल नाश किया।”

रघुवंशी की कविताओं में स्त्री विषयक ज्वलंत मुद्दों का भी चित्रण देखने को मिलता है। ‘सूची’ ‘किस लोक में’ ऐसी ही कविताएँ हैं जिसमें देह व्यापार में आई स्त्री, बिन ब्याही माँ की समस्याओं का चित्रण किया गया है। इन स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय और शोचनीय है। सभ्य समाज में ऐसी स्त्रियों के लिए कोई स्थान नहीं है।

‘सूची’ नामक कविता में कवयित्री देह व्यापार में आई लड़कियों का चित्रण करती हैं जिन्हें धोखे से अनैतिक कार्य क्षेत्र में धकेल दिया गया है। सभ्य समाज इन्हें हेय दृष्टि से देखता है। विडंबना यह कि इसमें से वह निकल कर इस समाज में रह भी नहीं सकती। उन्हें यह समाज नहीं अपना आएगा। अतः वह अपनी पूरी जिंदगी ऐसी स्थिति में ही जीने के लिए अभिशप्त हैं।

‘किस लोक में’ कविता में कवयित्री बिन ब्याही माँ की पीड़ा का अत्यंत कारुणिक चित्रण प्रस्तुत करती हैं। ऐसी स्त्रियों के लिए मातृत्व कोई सुख नहीं अभिशाप होता है। समाज ऐसी संतान और माँ दोनों को कलंक मानती है। उन्हें समाज में मान-सम्मान के साथ जीने का अधिकार प्राप्त नहीं है। सारी गलती स्त्री की नहीं होती परंतु फिर भी सारी सजा स्त्री के जिम्मे आती है और इनकी संतानों को जन्म से पहले या जन्म के बाद मार डाला जाता है या जो कुछ बच जाते हैं वह अनार्यों और लावारिसों की जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त हैं। कवयित्री कहती हैं- “ब्याह से पहले बच्चा.../ डंक मारता समाज क्या करें कुंवारी माएँ/ कहाँ-किस लोक में जाएँ संग बच्चों के/ देती हो जो हरी झंडी।”

कवयित्री २१ वीं शताब्दी की कामकाजी और बाजारवाद के दौर से घिरी हुई स्त्री की स्थिति का चित्रण करती हैं। जहाँ स्त्री की स्थिति द्विधात्मक हो गई है। ‘स्त्री की नींद’, ‘स्त्री और पंछी’ ऐसी ही कविताओं के उदाहरण हैं। ‘स्त्री की नींद’ कविता में कवयित्री आज की कामकाजी स्त्रियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती हैं। ऐसी स्त्रियाँ दोहरे मार झेलने के लिए विवश हैं। उन्हें अपने लिए समय ही नहीं होता कि अपनी प्राथमिक जरूरत भी पूरी कर पाएँ। स्त्री को इस स्थिति से उबरने की जरूरत है जिससे वह अपने लिए वक्त निकालें क्योंकि अपने लिए वक्त निकालना आज के समय में अत्यंत आवश्यक है।

“एक छोटे डाकखाने में.../ घर और दफ्तर की कभी ना खत्म होने वाले /कामों के बीच /स्त्री की नींद कसमसाती है।” ‘स्त्री और पंछी’ नामक कविता में कवयित्री स्त्री की विडंबनात्मक स्थिति का चित्रण करती हैं। आज की स्त्री न मध्ययुगीन समय की तरह बंधन में जकड़ी हुई है ना पूरी तरह से मुक्त हो पाई है। आज बाजारवाद के समय में स्त्री बाजार के बंधन में जकड़ती जा रही है। इसलिए स्त्री की आँखों में न जकड़न दिखती है ना मुक्ति की आकांक्षा से उपजी हुई खुशी क्योंकि इस बाजार ने स्त्री की स्थिति को असमंजस में लाकर खड़ा कर दिया है। जहाँ स्त्री को बहुत ही सतर्क होकर विवेक का इस्तेमाल करके फूँक-फूँक कर कदम रखने की जरूरत है। कवयित्री कहती हैं- “पंक्षी की आँखों में जकड़न नहीं /न मुक्त होने की आकांक्षा से उपजी खुशी /यह सब तो स्त्री की आँखों में है।

समकालीन कवयित्री मनीषा झा की कविता ‘विज्ञापन देखने पर’, ‘प्रश्न प्रलय’ में भी कवयित्री मनीषा झा इसी धारणा को व्यक्त करती हैं। जहाँ स्त्री को बहुत ही सतर्क होकर विवेक का इस्तेमाल करके आगे बढ़ना होगा। जहाँ बाजार, विज्ञापन मनुष्य को लुभाते हैं नये-नये सपने दिखाते हैं परंतु वास्तविकता से इनका कुछ लेना देना नहीं होता। कवयित्री कहती हैं-

“खेत-खलिहान में काम करती/ लड़की खुश होती है /एक बार टी.वी.पर/ साबुन का विज्ञापन देखकर चेहरा

चमक उठता है/ वह प्रयोग करती है परिणाम में पाती है—
/ साबुन /चेहरे को देखकर रुख बदल लेता है /व्यवस्था
की तरह /चिकने को चमकदार बनाता है/ और खुदरापन
/ज्यों का त्यों रह जाता है।

रघुवंशी जी स्त्री जीवन की समस्याओं का चित्रण करने के साथ ही स्त्रियों को जागरूक और अपने अस्तित्व की पहचान करने के लिए प्रेरित करती हैं। ‘सुंदरियों’, ‘सत्रह साल की लड़की’ ऐसी ही कविताएं हैं। ‘सुंदरियों’ नामक कविता में कवयित्री स्त्री को अपने कार्यों द्वारा अपनी पहचान दर्ज करने की बात करती हैं न कि प्रदर्शन बनकर। जब ऐसी जागरूकता स्त्री में आएगी उस दिन दुनिया बहुत ही सुंदर होगी— “मत आया करो तुम सम्मान समारोह में /तशरी शाल और श्रीफल लेकर.../ तुम ऐसा करके तो देखो/ बदल जाएगी ये दुनिया सारी।

कवयित्री स्त्री जीवन की वास्तविक छवि अपनी कविता के माध्यम से खींचती हैं। कवयित्री स्त्री को आत्मनिर्भर और चेतस होने की शिक्षा देती हैं।

समकालीन कवयित्री अनामिका के महत्वपूर्ण काव्य—संग्रहों में— ‘अनुष्टुप’, ‘गलत पत्ते की चिट्ठी’, ‘बीजाक्षर’, ‘खुरदरी हथेलियां’, ‘अब भी वसंत को तुम्हारी जरूरत है’, ‘दूबधान’ इत्यादि हैं। अनामिका अपनी कविताओं में स्त्री जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करती हैं। कविता ‘आज’ में ‘गोविंद प्रसाद’ अनामिका के बारे में लिखते हैं— “स्त्री की अवसाद और विषाद से कही ज्यादा अनामिका स्त्री जीवन की गाथा रचती हैं और इस गाथा में भाषिक स्तर भी अलग है।

सही अर्थों में अनामिका स्त्री जीवन की गाथा रचती हैं। स्त्री जीवन के बारे में लिखी कविताओं में ‘मरने की फुर्सत’, ‘बेजगह’, ‘तुलसी का झोला’, ‘प्रेम के लिए फांसी’, ‘स्त्रियाँ’ महत्वपूर्ण हैं। समाज में एक स्त्री के रूप में जन्म लेते ही सारे दुख दर्द परेशानियों को सहने के लिए हमेशा तैयार रहना पड़ता है। स्त्री के जन्म से लेकर जीवन पर्यंत उसे किसी— न—किसी रूप में कष्टों का सामना करना ही पड़ता है। ‘मरने की फुर्सत’ नामक

कविता में कवयित्री इसी सचाई को रखती हैं। कवयित्री ईसामसीह के बारे में कहती हैं कि यदि वह भी स्त्री के रूप में जन्म लिए होते तो उन्हें भी स्त्री के सारे कष्ट सहने पड़ते। वह आज जिस महानता के साथ पूजे जाते हैं शायद वह पूजे नहीं जाते क्योंकि उन्हें समाज में कुछ करने का मौका ही नहीं मिलता। यहाँ तक कि मरने की फुर्सत भी उनके पास नहीं होती।

“ईसा मसीह /औरत नहीं थे.../ईसा को फुर्सत नहीं मिलती / सूली पर चढ़ जाने की भी।”

वहीं ‘तुलसी का झोला’ नामक कविता में कवयित्री तुलसीदास की पत्नी रत्ना के माध्यम से एक स्त्री की व्यथा का चित्रण करती हैं साथ ही साथ स्त्री को स्वयं पर विश्वास करने और स्त्रियों को स्वावलंबी बनने की शिक्षा देती हैं। रत्ना को छोड़कर तुलसी महान बन गए पर रत्ना तो वहीं की वहीं रह गई लाचार, बेबस। तुलसी ने लौटकर रत्ना की तरफ देखा भी नहीं वहीं रत्ना ने अपना सब कुछ त्याग दिया पर महत्ता तुलसी को मिली रत्ना को नहीं। कविता के अंत में रत्ना इस दुख दर्द व्यथा को छोड़कर स्वावलंबी बनते नजर आती है। कवयित्री रत्ना के मुँह से कहलाती हैं— “अपने झोले में ही अब निकलूँगी मैं भी / अपने संधान में अकेली/आपका झोला हो आपको मुबारक /अच्छा बाबा राम—राम।”

कवयित्री अपनी कविता के माध्यम से जागरूक स्त्री का चित्रण करती हैं जो प्रश्न करती हैं, अपने अधिकारों की माँग करती हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने आप को भी समाज का हिस्सा मनवाने का दावा करती हैं— ‘प्रेम के लिए फांसी’, ‘स्त्रियाँ’ आदि ऐसी ही कविताएं हैं। ‘प्रेम के लिए फांसी’ कविता में जागरूक स्त्री प्रश्न करती है—धन, दौलत, संपत्ति बेटों के हिस्से आता है वहीं धीरज, सद्गुण, दया, सहिष्णुता सब बेटियों के जिम्मे ही क्यों आता है? आजादी के बाद सबको समान अधिकार प्राप्त हुआ तो बेटों और बेटियों में फर्क क्यों? बेटों को भी सद्गुणों की पोटली में से आधा सद्गुण धारण करना चाहिए। यह आज के समाज के लिए बहुत ही बड़ा सवाल है।

“स्नेह, संपदा, धीरज-सहिष्णुता / क्यों मेरे हिस्से आई/ क्यों बाबा ने /ये उसके नाम नहीं लिखी?.../बात करेगी बाबा से /सद्गुणों की पोटली में भी/ आधा हो हिस्सा तुम्हारा...”

अनामिका की कविताओं में जहां एक तरफ स्त्री जीवन की समस्याओं का चित्रण है वहीं दूसरी तरफ प्रश्न करती चेतन स्त्री का भी चित्रण मिलता है।

समकालीन कवयित्री सविता सिंह के काव्य-संग्रहों- ‘नींद थी और रात थी’, ‘अपने जैसा जीवन’ में स्त्रियों को आत्मनिर्भर होने और खुद से प्रेम करने का जिक्र है। वे स्त्रियों को निर्भीक होकर अपने अधिकारों की लड़ाई स्वयं लड़ने के लिए प्रेरित करती हैं साथ ही मानव के कर्तव्यों की तरफ भी ध्यान आकर्षित करती हैं। कवयित्री को निर्भीक और स्वावलंबी स्त्री पसंद आती है। ‘मुझे वह स्त्री पसंद है’ कविता में कवयित्री कहती हैं- “मुझे वह स्त्री पसंद है जो करती है /अपनी बात साफ-साफ /निर्भीक जो करती है अपने काम.../ खुद से प्रेम करती हैं और संसार के हर प्राणी से सहानुभूति रखती है।”

कवयित्री समाज में व्याप्त स्त्रियों पर हो रहे अमानवीय अत्याचार का चित्रण करने के साथ ही उस का घोर विरोध भी करती हैं। बलात्कार जैसा अमानवीय कुकृत्य किसी भी समाज के लिए बहुत ही शर्मिंदगी का विषय है। ‘खून और खामोशी’, ‘शिल्पी ने कहा’ ऐसी ही कविताएं हैं। इन कविताओं में नाबालिग बच्चियों के साथ हो रहे अमानवीय कुकृत्य और उन बच्चियों की अमानवीय तरीके से की गई हत्या का दर्दनाक चित्रण प्रस्तुत करती है। कवयित्री कहती है- “साल की बच्ची के लिए /यह दुनिया संभावनाओं से इंद्रधनुषी सी थी /यह दुनिया उस बच्ची को कैसी अजीब लगी होगी.../ जब उसे ढकेल दिया होगा किसी पुरुष ने खून और खामोशी में/ सदा के लिए लथपथ।”

‘शिल्पी ने कहा’ कविता में कवयित्री इन दुराचारियों को चुनौती देती हैं क्योंकि स्त्री अब सब कुछ चुपचाप सह कर नहीं रहेगी। वह ऐसे लोगों के खिलाफ आवाज उठा

रही है उन्हें सजा दिलवाने के लिए तैयार है- “लाखों- करोड़ों दूसरी लड़कियों के हौसलों में... हर जगह रोती कलपती स्त्रियाँ उठा रही है अस्त्र।”

सविता अपनी कविता के माध्यम से स्त्री अस्मिता, स्त्री अस्तित्व की तलाश करती नजर आती हैं। ‘कविता आज’ में ‘गोविंद प्रसाद’ सविता सिंह के बारे में लिखते हुए कहते हैं- “सविता सिंह की काव्य संवेदना की प्रकृति में उग्रता नहीं है। उनके यहां संवेग की आदिम महक भी नहीं और न ही गगन की तरह असमय विराग या आत्मदमन की प्रवृत्ति है। लेकिन उनके यहां स्त्री अस्मिता से जुड़े अनुभव की संश्लिष्टता है।”

सविता सिंह की कविताओं में स्त्री अपने अस्तित्व की तलाश करती है। ‘मैं किसकी औरत हूँ’, ‘विमला की यात्रा’ ऐसी ही कविताएँ हैं। जहाँ स्त्री अस्तित्व की बात उठाई गई है। कवयित्री स्त्री होने पर नहीं बल्कि किसी और की स्त्री होने पर सवाल उठाती हैं- “मैं किसकी औरत हूँ.../ किसकी मार सहती हूँ/ ऐसे ही थे सवाल उसके/ बैठी थी जो मेरे सामने वाली सीट पर रेलगाड़ी में /मेरे साथ सफर करती।”

इसके जवाब में आज की स्वावलंबी, आत्मनिर्भर, अपने अस्तित्व को पहचानने वाली स्त्री का जवाब है। वह कहती है- “सोचकर बहुत मैंने कहा उससे /मैं किसी की औरत नहीं हूँ/ मैं अपनी औरत हूँ अपना खाती हूँ/ जब जी चाहता है तब खाती हूँ/ मैं किसी की मार नहीं सहती/ और मेरा परमेश्वर कोई नहीं।”

वहीं “विमला की यात्रा” कविता में स्त्री अपना अस्तित्व, अपने घर की तलाश करती नजर आ रही है- “हे ईश्वर हो जीवन में मेरी यात्राएँ अब कम/ हो मेरा एक ही जीवन/ एक अपना घर जैसे है मेरी एक आत्मा।”

कवयित्री को उम्मीद है कि स्त्री अपनी संघर्षशीलता, लगन और आशा के द्वारा इस सोचनीय स्थिति से बाहर निकलेगी और एक सुनहरी सुबह का स्वागत जरूर करेगी। ‘नई हवाओं का संगीत’, ‘मनोकामनाओं जैसी स्त्रियाँ’ ऐसी ही कविताएँ हैं। ‘नई हवाओं का संगीत’ कविता में

स्त्री की आर्थिक सामाजिक स्थिति का चित्रण किया गया है। स्त्रियाँ आज भी आर्थिक रूप से संपन्न नहीं हो पाई हैं। वह सदियों से शोषित होती आ रही है फिर भी स्त्री ने अपनी आशा नहीं छोड़ी है। उसे विश्वास है कि उसके मन में जो भी सपने, इच्छाएँ हैं पूरी होगी। उसे भी वह सब अधिकार और सम्मान प्राप्त होगा जिसकी वह हकदार है- “वह एक औरत है /उसके पास अपनी एक फूटी कौड़ी भी नहीं /उसकी पीठ पर सदियों के नीले दाग है / मन में मगर नई हवाओ का संगीत।”

सविता सिंह की कविताओं में स्त्री की स्थिति का चित्रण मिलता है साथ ही स्त्री के अस्तित्व, उसकी इच्छा-अनिच्छा का चित्रण भी मिलता है।

समकालीन कवयित्री मनीषा झा के काव्य- संग्रहों में ‘शब्दों की दुनियां’, ‘कंचनजंघा समय’ महत्वपूर्ण है। इनकी कविताओं में एक तरफ प्रकृति पर्यावरण की चिंता दिखती है वहीं दूसरी तरफ समकालीन जीवन की विभिन्न समस्याओं जैसे- बाजारवाद, स्त्री जीवन की समस्याएँ, स्त्री के अधिकार, मानवीय संवेदनाओं का कम होना, बच्चों की स्थिति आदि का चित्र देखने को मिलता है। ‘रोजगार’, ‘पिटारी’, ‘अधेड़ स्त्री’, ‘विज्ञापन देखने पर’, ‘प्रश्न-प्रलय’, ‘व्यवस्था में’, ‘आऊंगी’ कविताओं में कवयित्री स्त्री जीवन की समस्याएँ, स्त्री की स्वतंत्रता, उसके अस्तित्व, सपने, आशा- आकांक्षाओं का चित्रण करती हैं।

‘रोजगार’ नामक कविता में कवयित्री निम्न वर्ग की स्त्रियों, बच्चियों का चित्रण करती हैं जिनके पास कोई मुकम्मल जीविका नहीं है। वह रोज जंगल झाड़ों में साग तोड़कर बाजार में बेचकर अपनी जीविका चलाती है। सरकार द्वारा अनेक रोजगार योजनाएँ चलाई गईं परंतु वास्तविक रूप से आज भी यह योजनाएँ कारगर साबित नहीं हो पाई हैं। आज भी निम्न वर्ग के लोग फाके के दिन काटने पर विवश हैं। कवयित्री सरकार समाज के लोगों का इस तरफ ध्यान आकर्षित करती हैं। कवयित्री निम्न वर्ग की महिलाओं के संघर्ष एवं परिश्रम को बखूबी चित्रित करती हैं- “और भोर होते ही कुछ लड़कियाँ /कुछ

महिलाएँ चुनने आ जाती है ढेकी साग.../मजबूरी उनके खून में उतरता है साहस बनकर / धंस जाती है/ वे सांप- कीड़ों, मूस-छुछुंदर और /नेवलो से भरे जंगल में /लगन से खोलती /जल्दी-जल्दी हाथ चलाती / पैर बढ़ाती / वे चुन रही ढेकी साग।”

कवयित्री अपनी कविताओं में स्त्री मन का सुंदर चित्रण करती हैं। ‘अधेड़ स्त्री’, ‘प्रश्न प्रलय’ ऐसी ही कविताएँ हैं। कवयित्री स्त्री शोषण का कारण स्त्री की सहनशीलता बताती हैं। स्त्री सदियों से चुपचाप सब कुछ सहती चली आ रही है। स्त्री इस स्थिति से छुटकारा पाना चाहती है परंतु वह विवश है ऐसी ही स्थिति में जीने के लिए। कवयित्री स्त्री की उपमा नदी से देते हुए कहती हैं- “बहुत हुआ अब सह नहीं सकती /कहती जाती वह और / सहती जाती है परिवार की पीड़ा /जैसे पी लेती है नदी शहर भर का कीच /और बहती रहती है।”

वहीं ‘प्रश्न-प्रलय’ नामक कविता में स्त्री मन की व्याकुलता दिखती है। जहाँ स्त्री सब कुछ जानते हुए भी वह समाज परिवार के मान मर्यादा के नाम पर जकड़ी हुई है। सदियों से जो स्त्री की धारणा बनी हुई है वह उस धारणा को निभाने में अपने आप को असमर्थ पाती है इस स्थिति में स्त्री की स्थिति विडंबना पूर्ण हो गई है। वह उन सभी बंधनों का न पालन कर पा रही न उसे पूरी तरह से छोड़ पा रही है वहीं बाजार ने स्त्री की स्थिति को और भी असमंजस में लाकर खड़ा कर दिया है। कवयित्री भूमंडलीकरण और बाजारवाद के दौर में स्त्री की स्थिति का चित्रण भी करती हैं। जहाँ बाजार स्त्री को लुभा रहा है परंतु इस बाजार से सावधान रहने की आवश्यकता कवयित्री महसूस करती है। आज स्त्री घर से बाहर निकल रही है अतः उसे इस बाजारवाद के दौर में बहुत ही सतर्क होकर फूक-फूक कर कदम रखने की जरूरत है। कवयित्री स्त्रियों को सावधान करती हैं- “मैं हूँ कि /निकल आई हूँ घर से/ और जाना है दूर /इसलिए खड़ी/ रास्ते को हूँ तौल रही।”

सदियों से स्त्री घर, परिवार के सपनों को पूरा करने के लिए अपनी पूरी जिंदगी, अपनी आशा-आकांक्षा, अपने

सपने को लगा देती है। अपनी इच्छा अपने सपने को दबाती चली आ रही है। 'पिटारी' कविता में स्त्री मन की व्यथा दिखती है। स्त्री की पिटारी में उसके सपने, आशाएँ-आकांक्षाएँ बंद हैं। जीवन के विभिन्न रंग उस जीवन रूपी पिटारी में बंद हैं जहाँ दुख, दर्द, सपने, आशा, इच्छा सभी हैं। स्त्री अपनी आशा-आकांक्षा, सपने को पूरा करने के लिए उचित जगह की तलाश में है जहाँ वह अपने सपने को पूरा कर सके। कवयित्री स्त्री की इच्छा-आकांक्षा की सुंदर अभिव्यक्ति करती हैं- "अपनी पिटारी लेकर घूम रही है वह/ इस कोने से उस कोने तक.../ क्या उसे मिलेगी ऐसी जगह जहाँ महफूज रह सके वह /लेकर अपनी रंगभरी पिटारी।"

वही 'आप बीती' कविता में कवयित्री पुरुषसत्तात्मक समाज की मानसिकता का चित्रण प्रस्तुत करती है। पुरुषसत्तात्मक समाज स्त्री को अपने अनुरूप एक फ्रेम में फिट करना चाहता है और जब स्त्री इस फ्रेम में फिट नहीं हो पाती तो उस पर तरह-तरह के लांछन लगाया जाता है। आज की स्त्री इस पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था की मानसिकता को जान गई है। आज स्त्री भी शिक्षित हो रही है अच्छे बुरे का निर्णय ले रही है। समय बदल रहा है अतः इस मानसिकता में बदलाव की जरूरत है। कवयित्री कहती हैं- "ले रहा है करवट जमाना /बदल रहा है समय का चेहरा /ऐसे में /तुम्हारे भाव बोध में /हम फिट नहीं बैठती /ठीक से।"

'व्यवस्था' नामक कविता में कवयित्री स्त्री की व्यथा-कथा कहती है। कवयित्री कहती हैं- "मैं उड़ान भरने की रौ में थी /कि काट लिए गए मेरे पंख/ मैं कुछ कहने को उठी थी /कि पड़ने लगे गालियों की बौछारें /उन बौछारों के बीच /दब गई मेरी आवाज/ संचित है वह हवा में /आज नहीं तो कल /उभरेगी जरूर /साफ-साफ पहचानी जा सकेगी।" कवयित्री यह भी कहती हैं- "मैं आऊँगी पुनः नए-नए रंग लेकर/गढ़ूँगी पुनः नई-नई प्रतिमाएँ/ देव-दानव के /प्रकृति-मानव के/ सजाकर बनाऊँगी एक संसार /मनाऊँगी मंगल का नूतन त्यौहार।"

इस प्रकार देखते हैं कि जहाँ भारतीय समाज में स्त्री सदियों से अन्याय शोषण का शिकार रही हैं। आज भी स्त्री के सामने नई-नई समस्याएँ मुँह बाए खड़ी है। वही समकालीन कवयित्रियों की कविताएँ स्त्री जीवन की समस्याओं का चित्रण करने के साथ ही स्त्रियों को न केवल आगे बढ़ने की प्रेरणा देती हैं बल्कि उन्हें आत्मनिर्भर बनने तथा अपने अस्तित्व को पहचानने पर बल देती है।

संदर्भ-ग्रंथ

समकालीन कविता की भूमिका (डॉ. मोहन)
समकालीन हिंदी कविता (ए. अरविन्दाक्षन)
शब्दों की दुनिया (मनीषा झा)
कविता आज (ए. अरविन्दाक्षन)

संपर्क:

शोधार्थी, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय,
सिलीगुड़ी (प.बं), मो. ७००१३७२२३४

नरेंद्र कोहली का रचना संसार : सागर मंथन में सांस्कृतिक चिंता किरीट देबनाथ

नरेंद्र कोहली समकालीन आधुनिक हिंदी साहित्य के एक प्रख्यात रचनाकार हैं, जिन्होंने पौराणिक विषयों को लेकर हिंदी साहित्य जगत में एक नया आयाम स्थापित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिकता का जो दौर समाप्त हो चुका था, उसे उन्होंने दूबारा शुरू कर दिया है। यह तो हम जानते ही हैं कि महाभारत कथा को लेकर आठ खण्डों में उन्होंने 'महासमर' नामक उपन्यास लिखा है, जिसमें महाभारत कथा जीवंत हो चुकी है। और इन उपन्यासों में भले ही हम महाभारत कथा पढ़ने बैठें पर वास्तव में पौराणिक कथा के परिप्रेक्ष्य में अपने जीवन को दूबारा देखकर उठेंगे। इनके उपन्यास के सभी नौ खंड क्रमशः बंधन, अधिकार, कर्म, धर्म, अंतराल, प्रच्छन्न, प्रत्यक्ष, निर्वध और आनुषंगिक का प्रकाशन लेखक के ७५वें जन्मदिवस के अवसर पर २०१५ में हुआ था।

प्रथम खण्ड में कथा दासराज की कन्या सत्यवती के हस्तिनापुर आगमन से लेकर व्यास द्वारा उन्हें अपने साथ लौटा ले जाने तक की कथा है। ठीक इसी प्रकार दूसरे खण्ड की बात करें तो इसकी कथा हस्तिनापुर में पांडवों के शैशव से आरंभ होकर, वारणावत के अग्निकांड में समाप्त होती है। एक ओर तीसरे खण्ड की कथा युधिष्ठिर के अभिषेक के पश्चात की कथा है, वहीं चौथे खण्ड की कथा खाण्डवप्रस्थ की कथा है, जहाँ न कृषि है, न व्यापार है। पूरे क्षेत्र में अराजकता फैली हुई है। अर्जुन का उलूपी, चित्रांगदा तथा सुभद्रा से विवाह का प्रसंग भी इसी खण्ड में है, इतना ही नहीं जरासंध वध का वर्णन भी इसी खंड में है जहाँ तक पाँचवें खण्ड का सवाल है इसकी कथा द्यूत में हारने के बाद पांडवों के वनवास की कथा है। छठे खण्ड की कथा पांडवों के विराटनगर में अज्ञातवास की कथा है। सातवें खण्ड में महाभारत के युद्ध में अर्जुन शिखंडी को सामने रखकर गंगापुत्र भीष्म के वध की कथा है। आठवें खण्ड की कथा द्रौण-पर्व से लेकर शांति-पर्व तक चलती है। यहाँ हमें एक बात ध्यान में रखना चाहिए, वह यह है कि अष्टम खंड में महासमर उपन्यास शृंखला को रचा गया है, किंतु इसका एक और खंड भी है जिसे 'आनुषंगिक' नाम दिया गया है जो 'महासमर' की कथा नहीं है बल्कि उसे सुचारू रूप से समझने हेतु है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उसे समझने के सूत्र इस खंड में हमें मिलते हैं। इसी प्रकार रामकथा को लेकर उन्होंने 'युद्ध', भाग-१, 'युद्ध' भाग-२, 'अभ्युदय' भाग-१, 'अभ्युदय' भाग-२ आदि उपन्यासों की रचना भी की है जिसमें रामकथा को समकालीन आधुनिक परिवेश से जोड़ कर देखने का प्रयास किया गया है। कोहली के इन उपन्यासों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि कथा तो रामायण की है, परंतु वह हमारे समकालीन जीवन से जुड़ी हुई है। रामकथा पर आधारित इन उपन्यासों का प्रकाशन क्रमशः इस प्रकार हुआ, 'युद्ध' भाग-१ प्रथम संस्करण २००५, आवृत्ति संस्करण २०१२ 'युद्ध' भाग-२ प्रथम संस्करण २००५ और 'आवृत्ति' संस्करण २०१२, 'अभ्युदय' भाग-१, प्रथम संस्करण, २००८ 'अभ्युदय' भाग-२ प्रथम संस्करण २००८।

ऐसी बात नहीं है कि महाभारत कथा को लेकर उन्होंने बड़े-बड़े उपन्यास ही लिखे हैं बल्कि महाभारत की छोटी-छोटी कथाओं को लेकर उन्होंने छोटा-छोटा उपन्यास भी लिखा है, जैसे महाभारत के 'विराट पर्व' पर आधारित 'सैरंध्री' नामक उपन्यास जो द्रौपदी को केंद्र में रखकर रचा गया है। इस उपन्यास में यह बताने का प्रयास किया गया है कि अगर एक महिला को किसी कारण वश अपना मूल परिचय छुपाते हुए किसी

अज्ञात स्थान पर रहना है तो उसे विभिन्न चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। यहाँ तक कि पुरुष जाति के लोलुपता का भी शिकार बनना पड़ता है। हम इस उपन्यास में देखते हैं कि द्रौपदी के प्रति कीचक के मन में लोलुप दृष्टि है। 'सैरंध्री' नामक उपन्यास का प्रथम संस्करण २००९ में निकला था। महाभारत की पात्र हिडिम्बा को आधार बनाकर 'हिडिम्बा' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें भीम के प्रभाव में आकर हिडिम्बा की राक्षसी प्रवृत्तियों का विनाश होता है। और मानवीय प्रवृत्तियों का उदय होता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सूफी दर्शन के अनुसार वक्रा और फ़ना तत्व को यहाँ दर्शाया जा सकता है। वक्रा से अभिप्राय ईश्वरीय गुणों की प्राप्ति है और फ़ना से अभिप्राय राक्षसी प्रवृत्तियों की प्राप्ति है, फ़ना का विनाश ही प्रगति है। अगर किसी में राक्षसी प्रवृत्ति चली जाती है, तब तो वह मानव और ईश्वर बन जाता है। श्री कृष्ण के कर्म-सिद्धांत को आधार बनाकर कोहली ने 'अभिज्ञान' उपन्यास भी लिखा है, जिसका प्रकाशन १९८१ में हुआ था। इनकी इन रचनाओं को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिकता के प्रति उनकी एक गहरी रुचि है। साथ ही साथ यह कहना भी अनुचित न होगा कि पौराणिक विषयों को लेकर उनका अध्ययन भी बहुत गहरा है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान देना होगा कि लेखक नरेंद्र कोहली को केवल एक खाँचा (पौराणिकता) के अंदर समाहित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि मनुष्य बड़ा विचित्र प्राणी है। किसी भी लेखक या रचनाकार की चिंतन प्रक्रिया एक ही दिशा में प्रवाहित नहीं हो सकती, दिशा परिवर्तित भी हो सकती है। उदाहरण के लिए हिंदी के प्रख्यात कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' एक ओर जहाँ छायावादी रचनाकार हैं वहीं दूसरी ओर वे प्रगतिवादी रचनाकार भी हैं। उदाहरण के लिए एक ओर जहाँ 'तोड़ती पत्थर' कविता सन १९४२ में लिखी गई थी। जो निराला की प्रगतिवादी कविता मानी जाती है, जिसमें मजदूर महिला के द्वारा पूँजीपतियों पर प्रहार करता हुआ दिखाया गया है। ठीक इसी प्रकार उनकी 'अनामिका', 'परिमल'

आदि काव्य संग्रह छायावादी रचनाएँ हैं तो इन रचनाओं के आधार पर उन्हें क्या केवल कवि कहा जा सकता है? क्या वे उपन्यासकार नहीं हैं? इसका उत्तर होगा वे एक कवि होने के साथ-साथ एक उपन्यासकार भी हैं। उदाहरण के लिए 'जागो फिर एक बार' जहाँ उनकी कविता है वहीं दूसरी ओर 'अलका', 'प्रभावती' और 'निरुपमा' उनके उपन्यास हैं। ठीक इसी प्रकार 'जयशंकर प्रसाद' क्या कवि के साथ-साथ कहानीकार नहीं हैं? निश्चित रूप से इसका उत्तर होगा 'जी हाँ' वे कवि के साथ-साथ कहानीकार भी हैं। क्योंकि 'बुद्धगुप्त' और 'आँसू' उनकी दो अलग-अलग विधाओं में रची गई रचनाएँ हैं। एक कहानी है और दूसरी कविता है। बंगला भाषा के प्रख्यात लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर मूलतः भले ही कवि हैं, लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उन्होंने केवल कविताएँ ही लिखी हैं, बल्कि नाटक, निबंध, कहानियाँ, उपन्यास, संगीत आदि भी लिखा है।

जहाँ तक नरेंद्र कोहली के 'सागर-मंथन' उपन्यास का सवाल है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि जिस लेखक ने इतने समय तक पौराणिक विषयों और स्वामी विवेकानंद की जीवनगाथा को लेकर उपन्यास लिखा है, वही व्यक्ति सम्पूर्ण आधुनिकता तथा समकालीनता से जुड़ा हुआ उपन्यास 'सागर-मंथन' लिखता है जो कोहली का बिल्कुल एक नवीन ढंग का उपन्यास है। इस उपन्यास के प्रथम संस्करण का प्रकाशन २०१८ में हुआ था। शीर्षक से भले ही यह उपन्यास पौराणिक प्रतीत होता है, परंतु यह बिल्कुल ही पौराणिक नहीं है बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें आधुनिकता का फैलाव है। मुझे जब इस उपन्यास के बारे में पता चला तो ऐसा लगा कि यह भी कोहली जी के अन्य उपन्यासों के भाँति पौराणिक ही होगा। लेकिन जब मैंने इसे पढ़ना शुरू किया या यह कहूँ कि पढ़ा तो मुझे यह ज्ञात हुआ कि यह पौराणिक उपन्यास नहीं बल्कि आधुनिकता से जुड़ा हुआ उपन्यास है।

यह नरेंद्र कोहली का पहला उपन्यास है जो समकालीन है और विदेशी धरती पर लिपिबद्ध किया गया है। आलोच्य उपन्यास में विदेशी धरती ही नहीं, बल्कि विभिन्न महाद्वीपों के लोगों के एक साथ गुँथे होने की कथा है और एक

नवीन संसार के निर्माण की कथा है। परिणामतः उनके हृदय में और परस्पर संबंधों में अनेक विरोध भी हैं और विडंबनाएँ भी हैं।

जहाँ इतिहास है और उस ऐतिहासिक काल की कड़वाहट भी है, जिसे न भूला जा सकता है, न उसके कारणों को दूर किया जा सकता है। जहाँ वर्तमान है, वहाँ अपने मूल देश के प्रति प्रेम भी है और छिद्रांवेष्टन भी है। न स्वयं को अपने देश से जोड़ सकते हैं और न उसको उसकी त्रुटियों के साथ स्वीकार कर सकते हैं। न देश के अपने हो पाए न पराए। न उसे स्वीकार कर पाए न अस्वीकार। इसके चरित्र व्यक्ति नहीं हैं बल्कि वे प्रवृत्तियाँ हैं जो स्थिर नहीं हो पाई हैं। वे परिवर्तन की चक्की में पिस रहे हैं और अपने वास्तविक रूप को जानने का प्रयास कर रहे हैं। इस उपन्यास के पात्र अपने देश को स्मरण भी करते हैं और उसे भूल भी जाना चाहते हैं। जिन्हें प्रेम नहीं करते उन्हें अपनाना चाहते हैं। इस उपन्यास में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जिस भारतीय संस्कृति को विदेशों में निवास करने वाले भारतीय अपनाने में कतराते हैं या लज्जा अनुभव करते हैं, उसी संस्कृति या रीति-रिवाज को विदेशी बड़े सहज ढंग से अपनाते हैं। उपन्यास में कथा की शुरुआत अमरीका में रहने वाले भारतीय अभियंता (इंजीनियर) विभु से उसकी माँ अमृता के साथ फ़ोन पर बातचीत से शुरू होती है, जिसमें वह अपनी माता अमृता को अपनी गर्ल-फ़्रेंड के साथ दिल्ली आगमन की सूचना देता है। अमृता यह बात अपने पति डॉक्टर कनिष्क कात्यायन को बताती है तो उसके पति सोचते हैं कि गर्ल-फ़्रेंड और बॉय-फ़्रेंड जैसे शब्दों को अब तक शालीन शब्द नहीं माना जाता था, परंतु अब समय बदल गया है। बेटा स्वयं अपनी माँ को सूचना दे रहा है कि उसकी एक गर्ल-फ़्रेंड है। आमतौर पर हमारे भारतीय समाज में गर्ल-फ़्रेंड और बॉय-फ़्रेंड वाली संस्कृति नहीं है, हमारे समाज में पुत्र-वधू को ही महत्व दिया जाता है, गर्ल-फ़्रेंड को नहीं। कदाचित् यही कारण है कि लेखक नरेंद्र कोहली अपने पात्र कनिष्क कात्यायन से कहलवाते

है कि “चाहता तो मैं भी हूँ कि उसका विवाह हो। उसके साथ उसकी पत्नी हो। बच्चे हों, परिवार हो। लड़की अमरीकी हो तो कोई बात नहीं, अमरीकी होगी तो ईसाई होगी, कोई बात नहीं। किंतु वह उसकी पत्नी हो गर्ल-फ़्रेंड न हो।”

आलोच्य उद्धरण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि हमारे समाज में पुत्रवधू को महत्व दिया जाता है। हमारे समाज के बड़े बुजुर्गों की अभिलाषा है कि अपने घर में पुत्र की वधु के रूप में, उसकी जीवनसाथी के रूप में एक नारी का आगमन हो। इस उद्धरण में अंतर्जातीय विवाह के प्रति कोई आपत्ति नहीं दर्शाई गई है बल्कि उसे स्वीकार किया गया है।

मेरी मान्यता यह है कि किसी भी प्रकार के संबंध में चाहे माता-पिता, भाई-बहन, पिता और पुत्र, माता और पुत्र, माता और पुत्री, पिता और पुत्री, दो मित्र, दो सहेलियाँ, गुरु और शिष्य आदि सभी प्रकार के संबंधों में आस्था और विश्वास महत्वपूर्ण है। गर्ल-फ़्रेंड और बॉय-फ़्रेंड का होना तभी बुरा नहीं होगा। बशर्ते उनके बीच एक-दूसरे के प्रति आस्था, विश्वास, श्रद्धा, समर्पण की भावना हो संकट के समय दोनों एक-दूसरे के प्रति सहायक हों। ऐसी बात नहीं है कि वे एक-दूसरे के प्रति ही अपने मन में आदर की भावना रखें, बल्कि गुरुजनों के प्रति भी उनके मन में आदर की भावना हो बड़ों का भी यह कर्तव्य है कि उनके लिए एक सम्माननीय वातावरण का निर्माण करें। आलोच्य उद्धरण में लेखक की माँग पुत्रवधू की है, परंतु मेरे मन में एक प्रश्न आया कि पुत्रवधू से अभिप्राय क्या केवल नाम मात्र पुत्रवधू से है? इसका उत्तर होगा निश्चित रूप से नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि पुत्रवधू से यहाँ लेखक का अभिप्राय एक ऐसी नारी से है, जो अपनी अंतरात्मा से उस परिवार की बहू हो केवल दिखाने के लिए नहीं, क्योंकि विवाह को भारतीय संस्कृति में जन्म-जन्मांतर का पवित्र बंधन माना जाता है, साथ ही साथ हिंदू मान्यता के अनुसार यह नव जन्म लाभ भी है।

कनिष्क को पुत्र के गर्ल-फ़्रेंड की सूचना मिलती है तो वे सोचते हैं कि कहीं राजू के परिवार की स्थिति उनके परिवार में भी उत्पन्न न हो जाए। इस उपन्यास की पात्र लिजा, जो

विभु की पत्नी बनना चाहती है वह एक बहुत ही सुशील युवती है, हम यह देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रति उसके मन में गहरी आस्था है। हम यह भी देखते हैं कि लिजा की माँ स्वयं एक विदेशी महिला होते हुए भी अपनी पुत्री लिजा के हिंदू रीति से सम्पन्न होने वाले परिणय समारोह में मेहंदी लगाने वाली पंक्तियों में जा कर बैठती हैं और बटु-चटु कर भाग लेती हैं। लिजा ने भी मेहंदी लगाने वाली परंपरा में भाग लिया। एक विदेशी दुल्हन भारतीय संस्कृति को किस प्रकार अपने विवाह समारोह में अत्यंत आनन्द और श्रद्धा के साथ अपनाती है। इस बारे में लेखक नरेंद्र कोहली लिखते हैं “उधर दूल्हा और दुल्हन भी बटने से मुक्त होकर नहा-धो आए थे। लिजा को बहुत समझाया कि वह पहले भोजन कर ले, किंतु वह नहीं मानी। लाइन तोड़ कर वह मेहंदी लगाने बैठी।”

आलोच्य गद्यांश से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक कोहली ने लिजा को एक ऐसी नारी के रूप में दर्शाया है जो एक ईसाई होते हुए भी भारतीय हिंदू संस्कृति को हृदय से स्वीकार करती है। उसके उत्साह को देखकर ऐसा लगता है कि वह ईसाई नहीं बल्कि सनातन धर्म की नारी है। इतना ही नहीं हम यह भी देखते हैं कि लिजा जब पहली बार कनिष्क कात्यायन से दिल्ली में मिलती है तो वह उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार करती है। कनिष्क उसे आशीर्वाद देते हैं। अर्थात् उसे इस बात की जानकारी थी कि भारत में लोगों को नमस्कार किया जाता है। सबसे हाथ नहीं मिलाया जाता। अर्थात् विदेशी होकर भी वह भारतीय संस्कृति को जान कर भारत आई। विभिन्न संस्कृतियों के मेल-बंधन का एक अच्छा उदाहरण भी इस उपन्यास में दिया गया है, जिसमें लेखक लिखते कि डॉक्टर कनिष्क कात्यायन कहते हैं कि “टोरी के पूर्वज इटली से आए थे। शैला के पूर्वज आयरलैंड से थे, और मैं भारतीय था। पंजाब में जन्म हुआ था, जिसे महाभारत में मद्रदेश कहा गया है। अब वह पाकिस्तान में है। इस समय मैं दिल्ली में हूँ, जिसे महाभारत में इंद्रप्रस्थ कहा गया है। विभु का जन्म दिल्ली में हुआ था और अब वह सियैटल जा पहुँचा था।” हम यह देखते हैं कि कनिष्क भी कहीं न कहीं

स्वयं को कुछ हद तक विदेशी संस्कृति में ढालने का प्रयास करते हैं। उपन्यास में ही वर्णन है किंतु विदा होते हुए शैला ने गले मिलने के लिए बाँह फैला दी, कनिष्क कहते हैं कि मैं मानता था कि स्त्रियों से इस प्रकार गले मिलने की विधि का ठीक-ठीक मुझे ज्ञान नहीं है। फिर भी इस समय मैं हाथ जोड़कर किनारा नहीं कर सकता था, मैंने भी हाथ बढ़ा दिए।”

इस उपन्यास में हम यह भी देखते हैं कि टोरी साहब का परिवार दोनों वैवाहिक संस्कृतियों ईसाई संस्कृति और हिंदू संस्कृति को महत्व देते हैं। हिंदू रीति से विवाह सम्पन्न होने के बाद अमरीका में भी उनका विवाह ईसाई रीति से सम्पन्न होता है। टोरी साहब का कहना है कि चर्च में होने वाले विवाह तक दिल्ली में सम्पन्न हो चुके विवाह की चर्चा को गोपनीय रखना है, क्योंकि दिल्ली में अपनी बेटी के विवाह को लेकर एक चित्र प्रदर्शनी बोर्ड उन्होंने तैयार किया था, जिसे वे अपने देश अमरीका में दिखाना चाहते थे।

आलोच्य उपन्यास में हम देखते हैं कि विभु का विवाह रोमन कैथोलिक चर्च में होता है, किंतु वहाँ उसका बपतिस्मा नहीं होता है। अर्थात् विभु हिंदू रहते हुए तथा लिजा ईसाई रहती हुई वैवाहिक सूत्र में आबद्ध होते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मानवीय बंधन के आगे धर्म तथा संस्कृति कोई बाँधा नहीं पहुँचा पाई। यहाँ धर्म या संस्कृति को नहीं, बल्कि मानसिक मेल को अधिक महत्व दिया गया है।

एक बहुत ही अच्छी बात इस उपन्यास में हम यह देखते हैं कि लिजा की माँ शैला को जब यह पता चलता है कि बेटे की सास और बेटी के ससुर के लिए समधी और समधन शब्द का प्रयोग भारत में हिंदी भाषा में किया जाता है, लेकिन अंग्रेजी भाषा में इस संबंध को दर्शाने के लिए कोई शब्द नहीं है। हम यह देखते हैं कि शैला उन शब्दों को अपनी भाषा में भी अपनाना चाहती हैं। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि विदेशी हमारी भाषा को सीखना चाहते हैं। जब शैला जैसी एक विदेशी महिला अपनी भाषा में जिन शब्दों का अभाव है उन्हें ग्रहण करते हुए अपनी भाषा के उस अभाव को दूर करना चाहती है तो हम क्यों अपनी संस्कृति और भाषा को दरकिनार करते हैं?

आलोच्य उपन्यास में हम देखते हैं कि लेखक नरेंद्र कोहली Live-in-relationship के पक्षपाती नहीं हैं, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं है। यहाँ लेखक ने एक कनाडा की लड़की और उनके मित्र के बेटे की बात कही है, जब वह लड़की सुनती है कि लड़के के पिता कनाडा आने वाले हैं तो वह कहती है “Why this old man wants to come to our house” अर्थात् वे उसके लिए केवल ओल्ड मैन थे वे ससुर नहीं थे। उन्होंने अपने बेटे को कई बार समझाया कि वह तुम्हें पसंद करती है, तुम उसे पसंद करते हो। इतने दिनों तक साथ रह रहे हो विवाह क्यों नहीं कर लेते। बेटे का कहना था “Why spoil the fun” बेटे का कहना था अगर विवाह होता दोनों का एक दूसरे पर क़ानूनी अधिकार होगा ऐसे अच्छा है।

भारतीय समाज विदेश में रहते हुए, अपनी संस्कृति को भूलता चला जा रहा है। इसका एक अच्छा उदाहरण वर्मा साहब के परिवार में हमें देखने को मिलता है। वर्मा साहब की बेटी ने (कनिष्क) को हाथ उठाकर हाथ किया।

उसने एक भारतीय परिवार में जन्म लेकर इस बात का ज्ञान नहीं था कि भारतीय समाज में उम्प्रदराज लोगों से मिलने पर ‘नमस्कार’ किया जाता है ‘हाय-हाय’ नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार में भी उसे इस बात की शिक्षा नहीं दी गई थी कि भारतीय समाज में अपने से बड़े लोगों को नमस्कार किया जाता है। कनिष्क को श्यामलाल की याद आती है, जिनके घर उन्होंने भोजन किया था। श्यामलाल की बहू से जब उनका परिचय हुआ तो उसने हाथ मिलाने के लिए बढ़ाया और कहा ‘हाय, आयम नीतू’। श्यामलाल ने बहू को चरण छूने का आदेश दिया, लेकिन यह यहाँ संभव नहीं था क्योंकि यह अमेरिका था, भारत का जमशेदपुर नहीं।

जिस प्रकार से पौराणिक काल में देवताओं और असुरों ने ‘सागर-मंथन’ किया और मंथन करते हुए १४ रत्न निकले थे, किंतु अमृत सबसे अंत में निकला था। देवताओं

को बहुत परिश्रम करना पड़ा था। लेखक लिखते हैं कि “जो विष यहाँ से निकला है वह संसार के युद्धों के रूप में सामने आया है, अमृत के रूप में शायद वह मानवता सामने आया है।” हमें आशा नहीं छोड़ना चाहिए हमें सागर को मथना जारी रखना चाहिए मानव समाज में अमृत अवश्य बरसेगा। इस बात में कोई संदेह नहीं है। और अमृत तत्व मानव समाज में वितरण होगा। हमारे भारतीय समाज में दाम्पत्य जीवन को महत्व दिया जाता है। केवल साथ रहने या शारीरिक आवश्यकताओं के लिए ही नारी और पुरुष के मेल को महत्व नहीं दिया जाता। हमें लिजा, उसकी माँ शैला, उसके पिता टोरी साहब आदि व्यक्तियों से सांप्रदायिकता की भावना से ऊपर उठकर मानवता का ज्ञान लेना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि विदेश में रहते हुए हम अपनी संस्कृतियों को भूलते चले जा रहे हैं। इस आधुनिक युग में हमारी नवीन पीढ़ी विदेश में रहकर शिक्षित तो हो रही है, लेकिन अपने समाज की अपनी निजी संस्कृति को भूलती चली जा रही है जो हमारे लिए अत्यंत लज्जा की बात है। इसका निराकरण हमें ही करना पड़ेगा। एक बात हमें ध्यान देना चाहिए कि केवल विदेश में रहने का दोष देने से नहीं होगा। कोई भी भारतीय अपनी आवश्यकताओं के कारण विदेश में रह ही सकता है, मूल बात यह है कि घर के बड़ों को बड़े ही क्यों बल्कि बड़े-छोटे सभी को अपनी संस्कृति की पहचान बचाने का प्रयास स्वयं करना चाहिए। यदि हम विदेशों में रहते हैं तो वहाँ पर अनेक लोग मिल कर भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों पर परिचर्चाओं तथा संगोष्ठियों का आयोजन कर वहाँ रहने वाले नवयुवकों को समझा सकते हैं। और अपनी संस्कृति और परंपराओं के प्रति, वहाँ निवास करने वाले युवा पीढ़ी में प्रेम, श्रद्धा और भक्ति की भावना जगा सकते हैं। ऐसा करने से हमारे समाज का विकास सुचारू रूप से होगा।

संदर्भ-ग्रंथ: सागर-मंथन (नरेंद्र कोहली)

संपर्क: किरीट देबनाथ शोधार्थी, प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय, कोलकाता,

ए- ११/२/८, बलाका आवासन, न्यूटाउन राजरहाट, कोलकाता-७००१५६ मो. ८९६१५७३१०९

मुक्तिबोध के काव्य में सामाजिक सरोकार

रीमा गुप्ता

सामाजिक सरोकार को वही रचनाकार समझ सकता है जिसने जन-सामान्य के जीवन को निकट से केवल देखा ही न हो बल्कि जीया भी हो। इसलिए मुक्तिबोध की काव्ययात्रा का आधार न केवल व्यापक है अपितु बेहद जीवंत तथा चैतन्य भी है। यही कारण है कि मुक्तिबोध की कविताएँ युग-सत्यग्राही चेतना को व्यक्त करने में सक्षम हैं।

साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य समाज से जुड़ना होता है। इसलिए साहित्य के लिए सामाजिक संदर्भ अपरिहार्य है। किसी भी रचनाकार की जिम्मेदारी तब ज्यादा बढ़ जाती है जब वह सौन्दर्यात्मक तथा कलात्मक इकाई के साथ साहित्य में सामाजिक चेतना को स्थान देता है। मुक्तिबोध के काव्य में इसी सामाजिक चेतना तथा सरोकार के कारण उनकी कविताएँ सौन्दर्य बिम्ब नहीं, बल्कि जीवन से जूझने का हथियार बन गई हैं। मुक्तिबोध के संदर्भ में अचला रानी तिवारी ने लिखा है- “मुक्तिबोध दुनिया को बदलना चाहते हैं, उसके लिए वे प्रयत्नशील हैं और शोषितों पीड़ितों की मुक्ति के लिए उनका अंतर्मन बेचैन है। उनका यह मन आशा-निराशा, दुख-सुख, आत्मविश्लेषण की अनेकानेक स्थितियों में टूटता और बदलता रहता है, लेकिन उनका अपराजेय मन उन्हें देखता रहता है।” यही उनका अपराजेय मन उन्हें दृढ़शक्ति प्रदान करता है जो उन्हें मुक्तिबोध बनाता है। मुक्तिबोध के लिए कविता और जीवन अभिन्न थे। उनका समस्त साहित्य उस संवेदनशील रचनाकार की मार्मिक अभिव्यक्ति है जिसने अपने युग-यथार्थ को बाह्य एवं आंतरिक दोनों स्तरों पर गहराई से महसूस किया। स्वाधीनता के बाद देश जिस भ्रष्ट, शोषक और अन्यायपूर्ण व्यवस्था के दंश को झेल रहा था, मुक्तिबोध अपनी कविताओं में उस व्यवस्था का असली चेहरा सामने लाते हैं और साथ ही उसमें व्यक्ति की अपनी भूमिका पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। राजनीतिज्ञों, पूँजीपतियों एवं बुद्धिजीवियों की दुरभि संधि के बीच मध्यवर्ग की उदासीनता जिस संकट को जन्म दे रही थी मुक्तिबोध का साहित्य उसका विस्तृत वर्णन है। अपनी रचनाओं में ‘अभिव्यक्ति के खतरे’ उठाते हुए उन्होंने वस्तु और रूप के स्थापित ढाँचों को चुनौती दी। इसीलिए अपने समय में उनका साहित्य चर्चित होने के साथ-साथ बहुविवादित भी रहा और उसका समुचित मूल्यांकन उनके जीवन-काल के बाद ही संभव हो पाया।

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं के माध्यम से अपने समय के यथार्थ को, समाज को, राष्ट्र को तथा विश्व को जो अभिव्यक्ति प्रदान की है वह उनके सामाजिक सरोकार को व्यक्त करता है। और यह तथ्य भी सही है कि जब तक कवि समग्रता से समाज की आदतों, मूल्यों तथा प्रतीकों का अध्ययन नहीं करता तब तक उसका सामाजिक सरोकार पूर्ण नहीं होता। मुक्तिबोध की काव्य-दृष्टि इतनी व्यापक है कि वह समाज के हर वर्ग को परखती है तथा गंभीर चिंतक की भाँति उसका विश्लेषण करती है। उनकी काव्य-संवेदना सामान्य से सामान्य व्यक्ति की वेदना को छूती है। वे जानते थे कि जब तक मानवीय समाज, संस्कृति और जीवन-दृष्टि स्वस्थ जीवन मूल्यों से नहीं जोड़ी जाएगी तब तक वर्गहीन और शोषणहीन समाज का ढाँचा खड़ा नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने लिखा है- “जाने क्या रिश्ता है, जाने क्या नाता है/ जितना भी उँड़ेलता हूँ, भर-भर फिर आता है/ दिल में क्या झरना है ?/ मीठे पानी का सोता है/ भीतर वह, ऊपर तुम/ मुस्काता चाँद ज्यों धरती पर रात-भर/ मुझ पर त्यों तुम्हारा ही खिलता वह चेहरा है।”

मुक्तिबोध का रचना-जगत जहाँ उदात्त तथा विकासमान है वहीं उनकी कविताएँ समाज से जुड़ी हुई हैं। उनकी कविताएँ मात्र आत्मोद्घाटन या आत्मप्रकटीकरण नहीं हैं, वह जीवन जगत को समेटे हुए सामाजिक-

सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इसलिए उनका कवि-हृदय सूक्ष्म संवेदनाओं को व्यक्त करने के साथ-साथ वास्तविक जगत को भी व्यक्त करता है। वास्तविकता जगत का सही चित्रण वही रचनाकार कर सकता है जिसने जन-सामान्य के जीवन को निकट से केवल देखा ही न हो, बल्कि जीया भी हो। इसलिए मुक्तिबोध मानव के सुख-दुख, पीड़ा, प्रताड़ना, निराशा, टूटन, घुटन आदि को अपने काव्य में व्यक्त करके ही नहीं रह जाते वरन वे उनसे मानव की मुक्ति के लिए मार्ग भी खोजते दिखाई पड़ते हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में साधारण जनजीवन की समस्याओं से लेकर जीवन की गहन अनुभूतियाँ भी मिलती हैं। मुक्तिबोध के इसी मानवतावादी दृष्टि के लिए डॉ. सुरेंद्र प्रताप ने लिखा है- “मुक्तिबोध शोषण, यातना और पीड़ा से त्रस्त आदमी के दुख-दर्द सिर्फ चित्रित ही नहीं करते बल्कि उससे उसे मुक्त होने का रास्ता भी बताते हैं।” मुक्तिबोध की काव्य-चेतना जन-जन से जुड़कर मनुष्य के व्यक्तिवादी मूल्यों का परित्याग कर सामाजिक मूल्यों की लोकमंगलवादी कल्याण दृष्टि की महत्ता को प्रतिष्ठित करती है। उन्होंने लिखा है- “मुसकरा उठता है बढ़ता हुआ मंजिल की ओर/ वह रूपहला लोक-मार्ग/ भावी के सपनों भरा अरे, जन-जीवन का पथ वह/ (कर्मण्य श्रद्धा के नेत्रों में चमकता हुआ)/ क्षितिज को चूमता है/ उलझी हुई गलियों के देश में।”

मुक्तिबोध की केंद्रीय संवेदना मानवीय प्रतिबद्धता है जिसकी अनुगूँज उनकी रचनाओं में समाहित है। उनकी यही मानवीय संवेदना उन्हें पूँजीवाद के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का साहस देती है- “मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक/ अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक/ तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ/ तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।”

मुक्तिबोध आधुनिक जीवन की विसंगति और विद्रूपताओं से परिचित थे। उन्होंने पूँजीपति, उद्योगपति तथा सत्ताधारी वर्ग को अन्य सभी से ऊँचा बताया है। उनके पास शक्ति, सत्ता तथा उत्पादन के साधन हैं और इसका सहारा लेकर

वे आम जनता का शोषण करते हैं। पर यह दमनचक्र जनता नहीं बर्दाश्त करेगी- “उग्रतर हो रहा चेहरों का समुदाय / और कि भाग नहीं पाता मैं/ हिल नहीं पाता हूँ/ मैं मंत्र-कीलित-सा, भूमि में गड़ा-सा,/ जड़ खड़ा हूँ/ अब गिरा, तब गिरा/ इसी पल कि उस पल...”

इन पंक्तियों के माध्यम से उन्होंने उस पूँजीवादी व्यवस्था की ओर संकेत किया है जो जनक्रांति के बाद विनष्ट होने वाली है। अपने आसपास परेशान जनता की नैराश्य, कुण्ठा, अवसाद, आत्मवंचना और आत्मपरस्ती को जितना मुक्तिबोध ने समझा उतना शायद ही किसी कवि ने समझा हो। उनकी यह संवेदना उनके भीतर क्रांति की लहर पैदा करती है। इसी संदर्भ में नंदकिशोर नवल ने लिखा है- “क्रांति में मुक्तिबोध की अखण्ड आस्था थी। इतिहास की गति के अवलोकन और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से उन्होंने जान लिया था कि शोषक और शोषित वर्गों का अंतर्विरोध जब चरम बिंदु पर पहुँच जाएगा तब जो शोषित वर्ग अपनी संगठित शक्ति और सही नेतृत्व से शोषण पर टिकी हुई सत्ता को उखाड़ फेंकेगा।” वे वैचारिक दृष्टि से इतने सजग थे कि उनका क्रांतिकारी भावावेग उनके वैचारिक अनुशासन को कभी भंग नहीं करता।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का जो माया जाल तैयार हुआ उसमें आम भारतीय इस तरह उलझकर रह गया कि वह चाहकर भी सत्ता का विरोध नहीं कर सका। मुक्तिबोध की कविताएँ इस उलझन को प्रस्तुत करती हैं। उस आम आदमी के दर्द को प्रस्तुत करती हैं जो जीवन की भौतिक सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए कई बार अपने अंतर्मन तथा बाह्यजगत के द्वंद्व में फँसकर रह जाता है और कई बार वह उस क्रांति का पथ चुनता है जिस पर वह अकेले ही चलता है। अपने समसामयिक विषय को मुक्तिबोध ने नजदीक से देखा और परखा है। इसलिए उनकी अधिकांश कविताओं का प्रमुख विषय शोषित उत्पीड़ित मानवता का मुक्ति-संघर्ष ही है। उन्होंने लिखा है- “विराट प्रकाश एक, क्रांति की ज्वाला एक,/ धड़कते वक्षों में हैं सत्य का

उजाला एक,/ लाख-लाख पैरों की मोच में है वेदना का तार एक,/ हिये में हिम्मत का सितारा एक।”

वे किसान-मजदूर आंदोलनों तथा दलितों की अधिकार चेतना के संदर्भ में हमेशा सजग रहे। शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह और अगाध मानवीय करुणा मुक्तिबोध की कविता की मूल चेतना है। जितेंद्र कुमार ने भी लिखा है— “उनका कवि- व्यक्तित्व... मजदूर और किसान, दलित और अन्य पिछड़े सामाजिक वर्गों की शैक्षिक, सांस्कृतिक, भौतिक उन्नति का इंतजार है।”

वे उस आम आदमी को भली-भाँति पहचानते थे जो आर्थिक-विपन्नता, ऋण-ग्रस्तता तथा परिवार समाज के बीच असमर्थता के कारण स्वयं को दोषी मानता है— “व्यक्तित्व वह कोमल स्फटिक प्रासाद-सा,/ प्रासाद में जीना/ व जीने की अकेली सीढ़ियाँ/ चढ़ना बहुत मुश्किल रहा।”

मुक्तिबोध का सामाजिक सरोकार उन्हें अभिजात्य वर्ग से इतना दूर कर दिया है कि वह पूँजीपति वर्ग उनके लिए निंदनीय है क्योंकि वह वर्ग सर्वहारा वर्ग का शोषण करना है— “असफलता का धल-कचरा ओढ़े हूँ/ इसलिए कि वह चक्करदार जीनों पर मिलती है/ छल-छद्म धन के/ किंतु मैं सीधी-सादी पटरी-पटरी दौड़ता हूँ/ जीवन की।”

मुक्तिबोध की काव्य-चेतना आदमी से आदमी को जोड़े रखती है जिसके कारण मनुष्य अपनी व्यक्तिवादी मूल्यों का परित्याग कर सामाजिक मूल्यों की लोकमंगलवादी कल्याण दृष्टि की महत्ता को प्रतिष्ठित करता है। मुक्तिबोध का काव्य अयथार्थ का नहीं बल्कि त्रस्त और संकटग्रस्त आदमी की आंतरिक सचाइयों का संसार है। उन्होंने अपने काव्य में जनवादी मूल्यों तथा सामाजिक यथार्थ को प्रमुख माना है। मनुष्य के जीवन में आए अवरोधों, विसंगतियों तथा संघर्षों से जूझने वाले रचनाकार गजानन माधव मुक्तिबोध ने साहित्य

को आत्मा की संस्कृति माना है। उनके अनुसार आत्म-संस्कृति समाज की अन्तश्चेतना है। आत्म-संस्कृति के माध्यम से ही समाज की अन्तश्चेतना विकसित होकर अभिव्यक्ति होती है। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं के माध्यम से साहित्य को सामाजिक सरोकारों से जोड़ने का काम किया है। सामाजिक सरोकार समसामयिकता के बिना अधूरा होता है। उन्होंने समसामयिक स्थितियों का वर्णन तो किया ही है साथ ही साथ भारतीय समाज तथा संस्कृति का भी यथार्थपरक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। औपनिवेशिक गुलामी की मानसिकता से मुक्त होने का रास्ता मुक्तिबोध की रचनाएँ हमें दिखाती हैं। सही मायने में उनकी कविताओं का प्रमुख उद्देश्य जन-कल्याण रहा है। देखा जाय तो समाज की अनुभूति कवि की अनुभूति बनकर ही कविता में व्यक्त होती है। उनका सर्जक व्यक्तित्व कोई मंत्र नहीं है। वह हर कच्चे माल को पहले अपने में आत्मसात करता है, फिर व्यक्त करता है। जितना वह ले पाता है, उतना ही उसके काव्य के लिए सत्य है। मुक्तिबोध के लिए कविता कर्म न होकर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। उनका रचना-संसार क्रांति के पथ पर आगे बढ़कर पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिए प्रेरित करता है। एक रचनाकार जो समाज की विषम परिस्थितियों से जूझता है, असमानता से जूझता है, व्यक्ति तथा समष्टि समस्याओं का आए दिन सामना करता है, वह अपनी पूरी कोशिश करता है इन समस्याओं से उभरने का, परंतु कई बार टूट जाता है; तदुपरांत ही एक असीम साहस से हर कठिन से कठिन स्थिति का सामना करता है। ऐसे रचनाकार को हम मुक्तिबोध के नाम से जानते हैं। सही मायने में मुक्तिबोध का काव्य सरोकार का काव्य है।

संदर्भ ग्रंथ: मुक्तिबोध की काव्य कला (अचला रानी तिवारी), मुक्तिबोध रचनावली-एक (संपा. नेमिचंद्र जैन), मुक्तिबोध रचनावली-दो (संपा. नेमिचंद्र जैन), ‘मुक्तिबोध’ विचारक, कवि और कथाकार (डॉ. सुरेंद्र प्रताप), मुक्तिबोध अनुभव-रक्त में डूबे संकल्प का कवि (जितेंद्र कुमार), मुक्तिबोध (नंद किशोर नवल)

संपर्क: शोध छात्रा (पीएच.डी.) हिंदी विभाग, विश्व भारती, शांतिनिकेतन

मेरी कविता का मूल स्वर प्रेम और विद्रोह है अशोक सिंह

मैं झारखण्ड के संताल आदिवासी बहुल क्षेत्र, संताल परगना के दुमका जिले में जन्मा और पला-बढ़ा। साथ ही प्रारंभिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक की पूरी पढ़ाई भी यहीं रहकर पूरा किया। पढ़ाई के दौरान छात्र आन्दोलनों के साथ विभिन्न सामाजिक संगठनों से भी जुड़ा और झारखण्ड के मुद्दों विशेषकर आदिवासी समाज से जुड़े मुद्दों को लेकर समय-समय पर चलाये जा रहे उनके संघर्षों में भी शामिल होता रहा। ऐसे में जाने-अनजाने कई आदिवासी महिला-पुरुष दोस्तों के संपर्क में आया और उनके साथ मेरा पारिवारिक संबंध बनता चला गया। पारिवारिक संबंधों की प्रगाढ़ता की वजह से उनके दुख-सुख, शादी-विवाह, पर्व-त्योहारों में ही नहीं, उनके घर-गाँव, जंगल-पहाड़ों, खेत-खलिहानों में जाना-आना शुरू हुआ। जहाँ न सिर्फ मुझे उनके जीवन और संस्कृति को जानने-समझने का अवसर मिला, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तर पर हो रहे उनके शोषण व संघर्षों तथा सांस्कृतिक स्तर पर हो रहे बाहरी हमलों को भी करीब से देखना, सुनना और गुनना भी संभव हुआ। फिर यह सब देखते-सुनते समझते पता नहीं, कब कौन-सी घटना और उससे जुड़ी संवेदना ने मुझे अंदर से इतना झकझोरा कि मैं पूरी जिम्मेदारी के साथ कलम उठाकर झारखंड के मुद्दों विभिन्न क्षेत्रों में चल रहे आंदोलनों और आदिवासी समाज के जीवन और संस्कृति को गहराई से जानने-समझने के लिए शोध अध्ययन की दिशा में निकल पड़ा, उस ओर जहाँ दूर से कहीं नगाड़े की आवाज आ रही थी और घने अँधेरे के बीच जंगल-पहाड़ों एकांत में बैठा कोई बाँसुरी बजा रहा था। जिसकी बाँसुरी से उसकी पूरी बस्ती का दुख, दर्द बनकर फूट रहा था। बाँसुरी से निकले बस्ती के उस दुख-दर्द को सुनते-गुनते और लिखते हुए पता नहीं कब और कैसे मेरी भावनाएँ भी आकार लेने लगी और शब्दों में ढलकर बाहर निकलने लगी। फिर समय के साथ-साथ स्थितियाँ, परिस्थितियाँ बदलती चली गई और धीरे-धीरे मैं सामाजिक सरोकारों से जुड़कर व्यवस्था से लड़ते-झगड़ते हुए जहाँ एक ओर पत्रकारिता से जुड़ गया, वहीं दूसरी ओर सामाजिक संगठनों में भी सक्रीयता बढ़ गई। बावजूद मन की भावनाएँ जो शब्दों में ढलकर बाहर निकल रही थी वो न सिर्फ बनी रही बल्कि दिनों-दिन बढ़ती चली गई। जो साहित्य की परिधि में कब और कैसे आ गई मुझे नहीं मालूम। लिखने-पढ़ने की यह गहरी अभिरुचि धीरे-धीरे सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों से जुड़कर मेरी दिनचर्या में घुल-मिल गई और एक समय ऐसा आया कि यह मेरी लेखकीय प्रतिबद्धता में बदल गई।

अब जहाँ तक सामाजिक बदलाव में अपनी लेखकीय भूमिका और दायित्व का सवाल है, तो मैं अपने साहित्य लेखन, पत्रकारिता और सामाजिक कार्यों को लेकर किसी आंदोलन का दावा नहीं करता। और न ही बहुत कुछ बदल देने के मुगालते पाले ही बैठा हूँ। साहित्य लेखन, पत्रकारिता और सामाजिक कार्यों में भागीदारी मेरे सामाजिक सरोकार का एक हिस्सा है। एक विनम्र कोशिश है, अपने समय, समाज और सत्ता के आर-पार देखने-जानने समझने की। आम आदमी के हितों की हिफाजत की, जिसे जुनून की तरह जिये और किये जा रहा हूँ मैं।

आज ग्लोबल होती इस दुनिया में चुनौतियाँ, संघर्ष और अवसर सब कुछ हैं। हमारी कोशिश है कि सामाजिक बदलाव के लिए हम चुनौतियाँ को चिंहित करें और अवसरों को पहचानें की सलाहियत विकसित करने में, आम

आदमी का साथी बनें। माध्यम चाहे साहित्य हो, पत्रकारिता हो या फिर सामाजिक कार्य। हमारी कोशिश है कि हम स्थानीय मुद्दों को राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखें-परखें और अंतर्राष्ट्रीय हलचलों में स्थानीयता की धमक को भी सजगता से महसूस करें। कुल मिलाकर कहें तो हम व्यापक लोकतांत्रिक बहस के हिमायती हैं और जनसरोकारों की अभिव्यक्ति के पक्षधर। यही मेरी लेखकीय प्रतिबद्धता है और मेरे सामाजिक बदलाव का औजार और हथियार भी।

अब जहाँ तक कविता, विशेषकर समकालीन कविता और उससे जुड़े हमारे लेखकीय अनुभव का है, हमारी पकड़ व समझ का सवाल है, तो जहाँ तक मेरी समझ बनती है कि हमारे आस-पास और मूल्यों की दुनिया में जो कुछ भी घटित होता है, उसका सीधा प्रभाव, उस समय की रचनाओं पर पड़ता है। प्रायः हर रचना अपने समय और समाज का प्रतिनिधित्व करती है एवं अपने समय की समझ से पैदा होती है। उसको रचने वाला रचनाकार अपने समय और समाज का प्रतिनिधि प्रवक्ता होता है। इसलिए आज वैश्वीकरण के इस दौर में लिखी जा रही समकालीन हिन्दी कविताओं में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से वैश्विक संवेदना का प्रभाव दिखायी देता है।

लेकिन सवाल यह भी है कि हमारे समय की कविता इस वैश्विक संवेदना के साथ हिन्दी समाज और उस क्षेत्र की लोक संवेदना से किस हद तक जुड़ी है? तो मुझे लगता है कि आज की समकालीन कविता निश्चित तौर पर जहाँ हिन्दी समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक गतिविधियों को प्रतिबिंबित कर रही है, वहाँ कमोबेश उसमें उस क्षेत्र की लोक संवेदना का स्वर भी सुनाई पड़ता है।

लोक जिसका केंद्रीय लक्षण सामुदायिकता है, देखा जाय तो समूचे साहित्य और कला-माध्यमों का इससे गहरा रिश्ता रहा है। इतना ही नहीं राजनीति, समाजनीति और अन्य शास्त्र तथा उसकी शाखाएँ, उप-शाखाएँ भी लोक को महत्व देती हैं। लोकतंत्र, लोकहित, लोक कल्याण जैसे शब्द अभी भी हमारे साथ हैं। इस लोक को साथ लिये बिना, हमारी विकास यात्रा भी उलझ जाती है। जाहिर है कि लोक का महत्व असंदिग्ध है। जब कविता या अन्य कला-रूप 'लोक' से अलग जाने की कोशिश करते हैं, तो निश्चय ही वे स्वयं प्रभाहीन हो जाते हैं। रीतिकाल की कविता और प्रयोगवाद से लेकर नई कविता की एक विशिष्ट धारा व्यक्तिवाद, लघुमानववाद, क्षणवाद और कल्चरल फ्रीडम की सुरंग में समा जाती है। 'लोक की कविता' के बरक्स 'कविता का लोक' बन जाती है, तो उसमें एक खास तरह का ठंडापन तो आता ही है, वह अपनी विश्वसनीयता पर भी प्रश्नचिह्न लगा देती है।

बारीकी से देखें परखें तो १९९० के बाद की समकालीन हिन्दी कविताओं में एक खास लक्षण दिखाई पड़ता है कि वह भद्रलोक और नारेबाजी से बाहर आयी है। इस दौर की कविताओं का स्वर घर परिवार से जुड़कर बनता है। इसमें चीख-चिल्लाहट, छीना-झपटी जैसी स्थितियाँ लगभग थिराने लगती हैं, और कविता लोक के विभिन्न उपादानों को अपने भीतर सहेजने लगती है। वह अपने आसपास को, अपने लोक को, अपने स्थानिक संसार को, ज्यादा विश्वसनीयता और गरिमा के साथ उठाती है। इस दौर की कविताओं में हड़बड़ी नहीं है। लहजा शांत है और लोक भाषाओं और बोलियों की तरफ उनका ध्यान विशेष रूप से जाता है।

देखा जाए तो इस दौर की कविता में कोई बड़बोलापन नहीं है, और न ही कोई दावा, न कोई मुनादी ! चिन्ता है तो सिर्फ इस बात की कि पृथ्वी को नष्ट होने से कैसे बचाया जाय। मानवीय रिश्तों को कैसे सही-सही हासिल किया जाय। अपनी दुनिया को, अपने परिवेश को कैसे हासिल किया जाय। साफ है कि कविता में भद्रता नहीं है, बल्कि जो अपना है, उसे अर्थवान बनाये जाने की बेचैनी है। अपनी जड़ों की ओर लौटने की प्रतिज्ञाएँ हैं। अपनी भाषा और बोलियों में शरीक होने का उतावलापन है।

आज अपनी बोलियों में शरीक होने की बेचैनी से लगता है कि कहीं न कहीं वह भाषा में असहजता महसूस कर रही है। मेरा अनुभव रहा है कि भाषा में हमारी अभिव्यक्ति पूरी तरह नहीं खुलती, लेकिन बोली वाणी में हमारी

अभिव्यक्ति ज्यादा सघन, ज्यादा तरल और प्राकृतिक होती है। जहाँ एक ओर भाषा में कृत्रिमता महसूस होती है, वहीं बोली-वाणी में सरलता और सहजता महसूस होती है। यहाँ यह भी गौरतलब है कि बोलियों का क्षेत्र भी सीमित या रूढ़ नहीं होता। एक बोली में उसके आसपास की कई बोलियाँ भी आ जाती हैं। भाषा अथवा बोली, समय की परिस्थिति एवं जमाने के बदलावों के साथ अपना रूपांतरण करती है। जैसा कि इन दिनों संचार माध्यमों का हमारी भाषा और बोलियों पर प्रभाव देखा जा सकता है। भाषा और बोलियों में आधुनिकीकरण की यह प्रक्रिया लगातार समृद्ध एवं जनोन्मुखी होती है। इसकी समृद्धि इससे भी है कि उसमें लोक संस्कृति के तमाम उपादानों की आवाजाही होती रहती है। लोकगीतों की सहजता और संप्रेषणीयता में आज यह सब कुछ शिद्दत से देखा-परखा जा सकता है।

ऐसे में देखा जाए तो यह सच है कि आज बाजारवाद के इस दौर में रची जा रही कविताएँ वैश्विक संवेदना के ज्यादा निकट हैं। पर सच यह भी है कि वह हिन्दी समाज और उस क्षेत्र की लोक संवेदना से पूरी तरह कट नहीं गयी है, उसमें लोक तत्व की उपस्थिति बनी हुई है। वैसे भी हिंदी क्षेत्रों और वहाँ की कविताओं में लोक को अभिव्यक्त करने की लंबी परंपरा रही है। यही वजह है कि आज भी वह अपने लोक को न केवल सहजता के रूप में बल्कि अपनी तमाम जटिलताओं के साथ शिद्दत से दर्ज कर रही है। जिसकी छवियाँ इस दौर की समकालीन कविताओं में देखी जा सकती हैं। मेरा विश्वास है कि आगे आने वाले दशकों में लोक की पहचान और व्यापक होगी और उसके नये-नये आयाम भी हमारे सामने आयेंगे।

अब जहाँ तक बात कविता के सामाजिक विस्थापन का है तो मुझे लगता है कि कविता समाज से पूरी तरह विस्थापित नहीं हुई है और न कभी होगी। हाँ, इधर की कविताओं में एक नयी चीज नजर आ रही है कि वह अपने तमाम बदलावों के बावजूद पाठकों के पास नहीं पहुँच पा रही है। आखिर क्या वजह है कि कविता जो मनुष्य के प्रारंभिक दौर से उसके साथ रही है, आज उसके पाठक निरंतर कम होते जा रहे हैं? जिसको लेकर कविता के सामाजिक विस्थापन का सवाल अक्सर उठाया जाता रहा है। वैसे इसके कई कारण हो सकते हैं लेकिन जहाँ तक मेरी सामान्य समझ बनती है कि लोक के सामूहिक और सार्वजनिक आचरण की परिधि धीरे-धीरे सिकुड़ती जा रही है। इतना ही नहीं नैतिक व अनुशासित जीवन की आकांक्षा घट रही है और संबंधों पर लोगों की आस्थाएँ कम हुई हैं और उसके स्थान पर अलगाववाद और अजनबीपन बढ़ा है। कवियों के स्वाभाव में परिवर्तन हुए हैं। वे जनता से आज उतने संबद्ध नहीं हैं, जितने होना चाहिए। जिसकी वजह से उनके द्वारा रची जा रही कविताएँ भी पाठकों की रुचि के अनुरूप खरा नहीं उतर पा रही हैं। दूसरी बात भाषिक संरचना और अभिव्यक्ति में तेजी से बदलाव आया है, जो विकास की प्रक्रिया की दृष्टि से अच्छी बात तो है, पर कहीं-कहीं यह बदलाव इतना ज्यादा और जटिल है कि चीजें आपस में उलझ जाती हैं। जिससे पाठकों के सामने संप्रेषणीयता का संकट खड़ा हो जाता है। इतना ही नहीं इस दौर की कविता की भाषिक संरचना भी एक-स्तरीय हो गयी है, जिसकी वजह से अधिकांश कविताएँ एकरस लगती हैं। सौंदर्यबोध शब्द तो इधर, कविता की चर्चा से वर्जित सा हो गया है। कविता, भाषा के प्रति जिम्मेदारी की बजाय तथाकथित सभ्य समाज के प्रति जिम्मेदारी के वश में लिखी जा रही है।

खैर जो भी हो, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि जहाँ एक ओर कुछ हद तक कविता का कुछ अपनी बनावट व बुनावट और कुछ बाजार के बढ़ते दबाव की वजह से सामाजिक विस्थापन हुआ है, वहीं दूसरी ओर आज की हिंदी कविता पहले की अपेक्षा अधिकाधिक विविधतापूर्ण और समृद्ध भी हुई है। यहाँ तक कि वह पहले की तुलना में ज्यादा जनतांत्रिक भी हुई है। उसमें सामान्य मनुष्य की उपस्थिति बढ़ी है। कवि भी पहले की तुलना में ज्यादा बहिर्मुखी हुए हैं। लेकिन यह भी एक बड़ी सच्चाई है कि फार्म के स्तर पर या भाषा के स्तर पर प्रयोगधर्मिता अभी भी अपेक्षाकृत बहुत कम दिखाई पड़ती है।

समय की शिला पर

ऐसी स्थिति में कविता के सामाजिक पुनर्जीवन को लेकर मुझे लगता है कि इसके लिए हमें कविता की लंबी परंपरा से जुड़ना होगा और उस परंपरा में डूबते-उतराते हुए नये फार्म की तलाश करनी होगी। बड़बोलापन और नारेबाजी से अलग हटकर कविता में लोक तत्वों की आवाजाही को बढ़ाना होगा। सहजता, सरलता व तरलता के साथ-साथ उसकी पहचान को और अधिक व्यापक व सघन करना होगा। उसके नये-नये आयाम को सामने लाना होगा, ताकि पाठकों के साथ कविता का अपनापन बढ़ सके। चमत्कृत कर देने वाली भाषा शैली और पाठकों के बीच अपनी बौद्धिकता व विद्वता स्थापित करने की मंशा छोड़नी होगी। सस्ती लोकप्रियता के पीछे भागते हुए मात्रा बढ़ाने के नाम पर प्रायोजित तौर पर कविता लिखने के प्रयास से बचना होगा। भाषिक संरचना और अभिव्यक्ति के पैटर्न में सावधानियाँ बरतनी होंगी। उसकी जटिलताओं से निकलकर सहज होना होगा। भाषा की जगह बोलियों की ओर लौटना होगा।

बचपन

तीस साल पहले
झाड़ी में गुम हो गयी एक गेंद
एक गुड़गुड़ी
जो उम्र की ढलान से गुड़गुड़ाकर
खाई में जा गिरी
और जिसे सिक से
निकालने की कोशिश में लगा हूँ आज भी
एक खेल
गिल्ली-डंडा का
जिसकी गिल्ली उछलकर
गाँव के स्कूल में बैठे
गुरुजी के माथे पर जा गिरी
और डंडा
जिसे गाँव की गली में छोड़कर
डर से भाग आया मैं शहर
आम के बगीचे में लगा एक झूला
जिसकी रस्सी टूटकर
झूल रही है अभी भी
पिता के सपनों में
बाजी लगाने की होड़ में हारकर
कटकर जा गिरी एक पतंग
जो टूट पेड़ से अटकी
झूल रही है हवा में आज तक

ताखे पर रखी एक उदास गुड़िया
जिसकी उदासी
अभी-अभी थककर सोयी
मेरी बिटिया की नींद में गिर रही है.....
एक गुब्बारा
जो अभी-अभी अचानक हाथ से फूट गया
और जिसके फूटने की आवाज
पास खड़े बच्चों की खिलखिलाहट में
गुम हो गयी.....
खट्टी-मीठी यादों-सी वह इमली
जिसकी मिठास
समय की धूप में सूख कर उड़ गयी
और खटास बची रह गयी जीवन में
दादी के अँचरे से खोलकर
चुरायी गयी वह चवन्नी
जो चली गयी दादी के साथ ही
उसके चार आने सेर
मिठाई की बातों की मिठास से घुलकर
अचानक हाथ से छूट.....
गिरकर फूट गया स्मृतियों का वह गुल्लक...
जिसमें इकट्ठी वर्षों की खुशियाँ
फर्श पर सिक्के के साथ बिखर गई....
और खनक.....
बाजार के शोर में गुम हो गयी

हाशिये पर रह रहे भूखे बदहाल लोगों से

जो कुछ कर सकते थे
वे लोग अब रहे नहीं
जो हैं,
वे सब के सब बैठे हैं थक हार कर
हाथ पर हाथ धरे
उनके टेबुल पर रखी मार्क्स की किताबों पर
जम गई है धूल
और जिनके पास शब्द है, भाषा है, तर्क है, बुद्धि है
वे सबके सब चुप हैं, मौन-व्रत धारण किये
उनकी जुबान को लकवा मार गया है
ऐसे में सिर्फ तुम्हीं कुछ लोग बचते हो
जो कुछ कर सकते हो इस विकट समय में
माना कि शब्दों और वाक्यों में नहीं है तुम्हारी पकड़
नीति नियम कानून संविधान से भी रहे तुम अक्सर दूर
पर गूंगे और अपाहिज नहीं हो तुम
तुम चीख सकते हो
अपने पेट में लगी धधकती आग को मुट्टियों में भर कर
चीखो, ओ हाशिये पर रह रहे भूखे बदहाल लोगों !
चीखो, और जोर-जोर से चीखो !
अपने पेट में लगी धधकती आग को
मुट्टियों में भरकर चीखो !
इतनी जोर से चीखो, इतनी जोर से
कि बावन कोठरी, तीरपन द्वार के बीच
चैन से सोये आदमी की नींद उड़ जाय
वे मरे हुए लोग हैं,
जिनके बीच रहते हो तुम
अंधे बहरे गूंगे लोग हैं वे
उनसे कोई अपेक्षा मत रखो
यह तुम्हारे हिस्से की लड़ाई है
जो तुम्हें खुद ही लड़नी है !
और लड़कर जीतनी भी है तुम्हें
चाहे जितनी बार भी हारना पड़े तुम्हें !

एक दिन

एक दिन लील जायेगा आदमी
धरती के सारे जंगल और पहाड़
और खड़े-खड़े चाय की तरह सुड़क कर पी जायेगा
सारे नदी तालाबों को
देखते ही देखते एक दिन
निगल जायेगा वह पूरी पृथ्वी को भी
और लपकेगा आकाश की ओर
और तो और
एक दिन आदमी के आतंक से आतंकित हो
भाग जायेंगे सारे देवता पृथ्वी छोड़कर
अगली सदी तक नहीं बचेगी
ईश्वर जैसी कोई चीज पृथ्वी पर
एक दिन संग्रहालय की वस्तु हो जायेगी
दादी का हुक्का, ढेकी, जाँता, खाट
और ढोल-ढाक माँदल-नगाड़ा जैसी बची-खुची चीजें
देखी जायेंगी यदा-कदा सिर्फ प्रदर्शनियों में
एक दिन बुधना बाँसुरी को जलाकर पकायेगा भात
और उसके बच्चे ढोल के ढक्कन को
गुड़गुड़ी की तरह गुड़गुड़ायेंगे गाँव की गलियों में
एक दिन बीड़ी की तलाश में आयेंगे मुक्तिबोध
और निराश खाली हाथ लौट जायेंगे पृथ्वी से
एक दिन पैदल चलने वाले से भी
टैक्स वसूलेंगी शहर की सड़कें
और दफ्तर में खड़े होकर साँस लेने के एवज में
वहाँ की हवाएँ भी माँगींगी पैसे
एक दिन कौवे तो कौवे
धीरे-धीरे आँगन से गायब हो जायेंगी सारी गोरैया भी
और सिर्फ बच्चों की किताबों में दिखेंगी।
एक दिन लड़कियाँ कम पड़ जायेंगी इतनी
कि ढिबरी बालकर खोजे भी नहीं मिलेंगी
घर के लिए बहुएँ
और लड़के बूढ़ा जायेगे कुवंरठिल्ले ही !

मैं बचाना चाहता हूँ

इस वक्त जबकि लगी है आग
इस छोर से उस छोर तक....

लोग बचा रहें है
अपनी-अपनी दुनिया
अपना-अपना घर

मुझे डर है
कहीं जलकर राख न हो जाए मेरी कविताएँ

कविताएँ जल गईं
तो जल जायेंगी कई तस्वीरें
राख हो जायेंगे
आग लगाने वाले लोगों के तहखाने तक
पहुँचने के नक्षे

क्या रह जायेगा फिर शेष
जब जला देंगे लोग छिनकर मुझसे
तुम्हारी तस्वीर, तुम्हारी चिट्ठियाँ !

मैं चाहता हूँ बचाना
चिट्ठियों का घोंसला
तितलियों के पर
औरतों के सिर की चादर

माटी की गंध
बच्चों के मैदान

थोड़े से अनब्याहे सपने
थोड़ी सी बची-खुची उम्मीद
थोड़ी सी हवा
थोड़ी सी धूप
रोने के लिए थोड़ी सी जगह
और अपने आप से बतियाने के लिए
थोड़ा सा एकांत

फिलहाल

यह जो अभी-अभी दंगे के हादसे से

डर कर भागा भयभीत कबूतर है
मेरी छत की मुँडेर पर आकर बैठा
मैं उसे बचाना चाहता हूँ

क्योंकि मुझे डर है
कि यह जो लगी है आग
इस छोर से उस छोर तक
उसमें कहीं झुलस न जायें उसकी पाँखें !

तुम मानो न मानो

तुमसे प्रेम करना है
यह सोचकर नहीं किया था तुमसे प्रेम
सुसताने को तलाशा जब-जब कोई छाँव
चिलचिलाती धूप में तन्हा चलते
तब-तब पेड़ की घनी छाँव-सी मिली तुम
मिली अक्सर बिजली के खंभे सी राह में खड़ी
अंधेरी रात में सुनसान सड़क से
जब भी कभी गुजरना हुआ

थका-हारा जब-जब लड़खड़ाया
लरजते हुए चाहा टिकाना कहीं अपना सिर
वहीं पाया तुम्हारा कंधा

और तो और
जब भी पड़ी जरूरत कभी किसी के मदद की
वहाँ सिर्फ और सिर्फ तुम्हारे ही हाथ दिखे
सुनायी पड़ी सबसे पहले

तुम्हारी ही आवाज
संघर्ष और दुख के क्षणों में
जब भी अंदर से पुकारा किसी को

और इस तरह,
चलते-चलते थककर एक दिन
जहाँ ठहरा रात्रि विश्राम के लिए
वह तुम्हारा ही घर होगा
यह सोचकर भी नहीं ठहरा था वहाँ !

जब तुमने लिखा अपनी हथेली पर मेरा नाम

पिता ने लिखा मेरे नाम एक शब्द 'उत्तरदायित्व'	एक ने कहा 'दुश्मन'
भरियाने लगा हाथ का खत	और मैं डर गया पीछा करती
माँ ने लिखा 'आशीष'	कई-कई अनगिनत आशंकाओं से
एक अदृश्य हाथ माथे से फिरता	किसी ने कहा लड़ो जुल्म के खिलाफ
दे गया पीठ पर थपकियों भरा स्पर्श	और कसने लगी मेरी मुट्ठियाँ
लिखा 'विश्वास' एक मित्र ने	बोला कोई, विरोध करो
झेलता अपने भीतर अविश्वास का दंश	और दिखने लगी मुझे
झाँकने लगा मैं बार-बार अपने अंदर	विरोध की कई-कई संभावनाएँ
गुरुजनों ने कहा 'अनुशासन'	और ऐसे में एक दिन
घिरा पाया मैं खुद को	जब तुमने लिखा अपनी हथेली पर मेरा नाम
एक अदृश्य परिधि में	मन उड़ियाने लगा,
	रुई के फाहे से हल्का हो दसो-दिस..... !

जन्म तिथि : ८ फरवरी १९७१ (दुमका, झारखण्ड) **शिक्षा :** स्नातक (हिन्दी)

अभिरूचि : साहित्य, रंगमंच, शोध-अध्ययन, पत्रकारिता और सामाजिक कार्य।

प्रकाशन : देश के विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुखता से रचनाएँ प्रकाशित। विशेषकर आदिवासी मुद्दों और उसके जीवन एवं संस्कृति पर शोध कार्य।

कविता संग्रह: कई-कई बार होता है प्रेम, साथ ही संताली कविताओं के अनुवाद की दो अनुदित पुस्तकें भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित 'नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द' एवं रमणिका फाउण्डेशन दिल्ली से प्रकाशित 'अपने घर की तलाश में'।

आदिवासी साहित्य एवं कला संस्कृति पर शोध कार्य: संताल आदिवासी जीवन एवं संस्कृति से जुड़े विभिन्न क्रिया कलाओं पर शोध कार्य इसके अलावे संताली एवं पहाड़िया लोक कथाओं का संकलन। आदिवासी लोक नृत्य, संताल परगना में लगने वाले मेले का सामाजिक सांस्कृतिक स्वरूप तथा विलुप्त आदिवासी कठपुतली लोक कला पर शोध कार्य। आदिवासी लोक नृत्य पर झारखंड सरकार के कला संस्कृति विभाग से 'जंगल गाँव, थिरकते पाँव' नामक पुस्तिका का प्रकाशन।

कविताओं का अनुवाद : कविताओं का बंगला, मराठी, उड़िया, संताली, भोजपुरी, पंजाबी, नेपाली, बोडो, असमिया आदि भाषाओं में अनुवाद।

संप्रति: स्कूली शिक्षा एवं साक्षरता विभाग के तहत जिला साक्षरता समिति दुमका (झारखण्ड) में जिला कार्यक्रम प्रबंधक के पद पर कार्यरत एवं एक स्वयंसेवी संस्था का संचालन। साथ-साथ स्वतंत्र पत्रकारिता।

संपर्क : जनमत शोध संस्थान पुराना दुमका, केवटपाड़ा दुमका-८१४१०१ (झारखंड)

मो.: ९४३१३३९८०४/७०५०२०३४३६ **ई-मेल :** ashok.dumka@gmail.com

तुम सुनो

और सुनो फिर से
कहता हूँ.....
अगर पृथ्वी क्षण भर रुक जाये
तो तुम्हारे चुम्बन का फूल
फिर से खिल उठेगा
जैसे अँधेरे में बजता है ध्रुपद
सुनो तुम वे चीखें भी
जिन में नहीं है आवाज़ और ध्वनि
तुम बोलना मत बंद करो
किसी भय से
और चुनाव करने के
अधिकार को व्यर्थ मत जाने दो
तुम देखो
ओस की एक बूंद में भी
छिपा रहता है मनुष्य का भविष्य
कविता के नाम पर
कागजों का ढेर मत लगाने दो
आदमी बदल रहा है
अहिंसा-अहिंसा-अहिंसा
क्योंकि वह सदियों से जकड़ा था
कठोर शिकंजों में
उन नियमों को तुम चकनाचूर कर दो
जो तुम्हें दास बनाने को
रचे गए हैं
जिस्म से ही नहीं
दिल और दिमाग से भी
आदमी को ठप्प कर दिया जाता है
जनता अपनी ताकत को
पहचान रही है
वे लोग जो डिब्बेनुमा कोठरियों में
बैरहमी से ठूँस दिए हैं

उन दीवारों को ढहने दो
लोग दवाओं के लिए भी
कतारों में लगने लगे हैं
फायलों पर जमी है धूल
तुम्हारा न्याय एक बासी रोटी है
कागजों के अम्बार में
मेरा नाम गुम हो चुका है
हर बार कहा जाता है
खोजते हैं
अभी मिला नहीं
कल आना
इसी तरह
जाने कितने चले गए
बिना न्याय पाए!

सोचता हूँ

बार-बार सोचता हूँ
धरती पर ईश्वर कहाँ है
भूखे आदमी की तपती आँखें
और यह मेरा आत्म-गान
स्वयं को झुठलाता हुआ
मैं जानता हूँ
तुम मुझे भी
मृतकों की आँखों से देखोगे
पुस्तकीय प्रेत मेरा पीछा करेंगे
कहाँ है ईश्वर इस धरती पर
विषाद में डूबे किसान के मन में
क्या वह
उन ऋचाओं का सर्जक है
जो अग्नि के स्तवन से
शुरू होती है

अग्नि किसने पैदा की है
उस आदमी की शक्ति
मुझे भी दिखाओ
कविता मनुष्य के चित्त का
प्रक्षालन कर
उसे पशु से अलग करती है
ओह! जिन शब्दों को मैं
फ़िज़ूल बातों में बर्बाद करता हूँ
वे बड़े श्रम से ही मनुष्य ने रचे हैं
कठोर श्रम का कोई विकल्प
ईश्वर के पास है क्या
सच को छिपाने के लिए
हर बार मैंने पराजय स्वीकार की है
उस समय ईश्वर कहाँ था
सब से अधिक कचोटता है
पवित्र शब्दों से
छल-कपट की धार पैनाते रहना
नीति के सूत्र रटकर भी
मैं उसे आँखों से देख नहीं पाया
क्या इस दुनिया से भी परे
कोई मनुष्य-अस्तित्व शेष है
मैंने कुछ बातों को स्थगित कर
उन्हें विस्मृत भी किया है
नतीजा जो भी हो
जोखिम उठाने को तैयार रहूँ
मुझे निसर्ग के विरुद्ध बोलने को
किसने आदि ऊर्जा से
समृद्ध किया है
अंकुशहीन रहकर ही
मैं ऐसा आत्म-गान रच सकूँगा
जिस में तुम्हारा चित्र देख सकूँ।

आगमन

यहाँ आने का मेरा पहला ही दिन
 एक विस्थापक की तरह
 जड़ों से जैसे किसी ने
 निर्ममता से काट दिया हो
 बालकनी में खड़े-खड़े
 देखता हूँ छिपता सूर्य
 दिन की तरह ही
 जीवन भी ढल चुका है
 कैसा है यह सब
 चारों तरफ धुँधलाहट है
 अजब सा कोहरा बिना मौसम
 आसमान तो भूरा दीखता है
 क्षितिज के पास दिखाई देते हैं
 नंगे, छरहरे वृक्ष
 अपनी पतली नग्न टहनियों को
 आकाश में हिलाते हुए
 कितना सौभाग्य हो मेरा
 अगर किसी एक जीवन की भी
 मार्मिक व्यथा कम कर पाऊँ
 जेनेरेटर की खुरदरी आवाज़ में
 बसेरा तलाशते पक्षी
 ओह! प्रतीक्षा का क्षण भी
 कितना बीहड़ होता है
 किसी के सर्वोत्तम कर्म की दीप्ति
 कितना कोलाहल है चारों ओर
 भोर में कलरव भी
 सुनाई नहीं पड़ता है
 ओ कवि
 अँधेरा और ऊब कम करने को
 मैंने उल्लास के गीत लिखे
 लोगों को कहने दो
 'अब कुछ नहीं हो सकता'
 हर चीज बदलने को बेचैन है

वह शक्ति तो जुटाऊँ
 जो साहस से कह सकूँ
 जो कहना चाहता हूँ
 जीवन का नया अर्थ
 देने के लिए
 मुझे उस पृष्ठ को देखना होगा
 जहाँ कीर्ति की आभा
 सर्जक
 अपने अस्त हुए जीवन पर छोड़
 जाते हैं।

चढ़ाई

जब चट्टानों पर चढ़ा
 तो सूर्यास्त होने को था
 उसके पास कोई ध्वज नहीं था
 एक मन ने कहा
 आगे खतरा है
 चढ़ना ठीक नहीं
 दूसरे ने ऊँगली दबाई
 उधर देखने को कहा
 जहाँ नीले बादलों पर
 छिपता सूर्य अंतिम किरने छोड़ कर
 लुप्त होने को था
 मैंने उन काली आँखों में भय की
 उन्मीलित छायायें देखीं
 चढ़ाई कठिन थी
 जब ऊपर शिखर पर पहुँचा
 तो बहुत बड़ी दुनिया दिखाई दी
 दूर दूर तक फैला क्षितिज
 जब धरती पर आया
 कामगार उदास थके-मादे
 घर की तरफ खाली टिफिन लिए
 कल की चिंता में
 मौन लौट रहे थे

ऊपर से कच्चे घर धूसर राख की
 ढेरियाँ लगे शांत और क्षुब्ध
 एक ओर आकाश में कासनी कबूतर
 उड़ान भर रहे थे
 सूर्यास्त को पकड़ती आँखें
 अभी और रुकने को कह रही थीं
 पीछे दरख्तों की सघन कतारें थीं
 लगा जैसे हर चीज़
 जल में अपनी छाया-जन्य आकृति
 देखने को बेचैन है
 मुझे घर लौटने की जल्दी थी
 उतरते देर नहीं लगी
 लेकिन सामने बहुत ही
 छोटी और परेशान दुनिया देख कर ही
 सब्र करना पड़ा।

धरती का तल

बार-बार लगा विफल हूँ
 हर बार थका-हारा, उदास
 लेकिन उन धड़कनों को कहता रहा
 जो धरती का तल तोड़ कर
 बाहर आई थीं
 उन में अधबुझी आँच का धुआँ था
 बर्फ जैसी शीतलता
 जिन आघातों ने मुझे आदमी
 बना रहने दिया
 उस समय तक मैंने स्वप्न देखे
 लेकिन बनक में
 वे बातें उगती रहीं
 जो मेरे अंदर पक चुकी थीं
 अब छायायें घनी थीं
 लहरें शांत
 जल फिर भी सख्त चट्टान से
 टकराकर उसे काट रहा था।

अनाम

मैं जिधर चला
लोग उधर चलने को बेचैन थे
कैसे कहूँ
उसके बारे में
हमारी शांति में एक कील
आँच में हवा भी थी
जल और आकाश
पृथ्वी की गंध के बिना
उसका लपट बने रहना
संभव न था
जिसे मैं अपनी रगों में
महसूस करता रहा
उसके लिए वीतराग होकर भी
साहस जुटाया
और क्षमता भी
चाहे दुनिया ने उसे तुच्छ कह कर
ठुकराया और उपेक्षा की
लेकिन उसे
आत्मा की लौ बिन-बुझाये
अपनी बनक के साथ कह चुका था
कविता ने मुझ से यही चाहा
मैं बाहर देख कर
दुनिया को उन आँखों से भी देखूँ
जो किसी को दिखाई नहीं देती
जिन प्रज्वलित-
प्रचंड क्षणों से मैं गुज़रा
अन्दरूनी दृढ़ता ने
सुंदर को ही चुना
जितना अंदर से फुकता रहा
अच्छे इन्सान पर
भरोसा बढ़ता गया।

रेखाएँ

ओह ! सौन्दर्य और प्रेम को
अब तक आहुति नहीं दे पाया
वे वक्र रेखाएँ
वे चित्र
वे अनाहूत शब्द
ओ प्यार तेरी ऊँचाई की
मैं अभी कल्पना तक नहीं कर पाया
सत्य के शूल ने
मुझे अंदर से टीस दी है
जिन कृतिओं से मुझे
उत्साह मिला जीने का
सारे स्तवन व्यर्थ हुए
आत्म-गान का कोई अंत न था
और कुछ ऐसे चेहरे
जिनको देख मैं अपने आघात
भूलता रहा
यह सब क्षणिक था
लेकिन अनंतता का
श्वेत परिधान पहने
इसे समझना कठिन भी था
उन चेहरों को अब तक नहीं भूला
जीवन की खुली पुस्तक से
मैं इस दर्द को झेलता रहूँगा
ओह ! वे साँसे धन्य हैं
जो प्यार की ऊष्मा
और श्रम का सौन्दर्य
एक साथ कहती हैं
इन्हीं से उजागर हुआ है
मेरा संघर्ष पथ
सबसे अधिक चाहा मैंने
उस विश्वास को

जो मेरे बुरे दिनों में भी
साथ रहा
धूप-छाया की तरह
प्यार का सत्य इतना ऊँचा है
मैं उस तक पहुँचने का
साहस नहीं कर सका .

व्यथा

हर बार लगा विफल हूँ
हर बार थका हारा
लेकिन उन धड़कनों को कहता रहा
जो धरती का तल तोड़ कर
बाहर आई थीं
उनमें आँच की दहक थी
लेकिन हृदय के दरकने की
अनुगूँज भी
जीवन व्यर्थ गया क्या
ओह ! जिन गहरे आघातों ने मुझे
आदमी बना रहने दिया
लेकिन बनक में वे बातें आती रहीं
जो मेरे अंदर पक कर
सुख हो चुकी थीं
अब छायाएँ सघन हैं
और हिलोरें शांत
जल फिर भी सख्त और
रूखी चट्टान से
टकरा कर अपनी व्यथा
थाहता रहा
ओह ! जब-जब अपनी आन्तरिक
दृढ़ता को त्यागता हूँ
दीवारों से पलस्तर झरता है
और आदमी के सिसकने का
एहसास होने लगता है

संपर्क: मकान संख्या - २४०, ई-स्पेस, निर्वाणा कंट्री, सेक्टर-५०,
गुरुग्राम-१२२०१८ (हरियाणा), मो. ९९१०५६२२५८

कविता लिखती है एक औरत

आ गई है कविता
पतली धानी पत्तियों से झाँकते
अनार के चटकीले फूल की तरह
वह उसकी खिड़की पर बैठकर
उसे बुला रही है संकेतों से
कविता को देखते ही वह औरत
हुलसकर पकड़ लेती है
उसके कोमल हाथ
पर फिर अचानक छोड़कर
वापस भाग जाती है
जैसे किसी ने डोर खींच ली हो
गैस पर चढ़ी सब्जी जल रही है
वह दौड़कर हिलोरने लगती है उसे
कविता वहाँ बैठी मुस्करा रही है
कहती है, 'आओ ना! बातें करें'
'हाँ!' वह छोटा-सा जवाब देती है
और सब्जी हिलोरती हुई
मसालों से सुगंध निकलने का
इंतजार करती है
वह कविता की ओर देखकर
मुस्कराती है खुशामद में
इस उम्मीद से
कि ऐसा करने से
कविता थोड़ी देर इंतजार कर लेगी
सब्जी में पानी डालकर
वह फिर भागती है कविता के पास
कविता का हाथ
अपने हाथ में लेकर
दूसरे हाथ से पकड़ लेती है

उसका हाथ
हाथों को लेकर अपने हाथों में
विभोर होकर
आँखें मूँद लेती है
झर रहे हैं शब्द
हरसिंगार की तरह
कि अचानक उसे दिखाई पड़ता है
दूध उफनकर पतीले के ऊपर
किनारे तक पहुँच गया है
अब गिरा तब गिरा
वह फिर हाथ छुड़ाकर
माफी-सी माँगती हुई
भागती है
दौड़कर गैस बंद करती है
कुछ शब्द खिड़की पर छूटे
कुछ कपड़ों में चिपके
कुछ साथ चले आये
कुछ चूल्हे पर गिरे
कुछ फर्श पर
उधर कविता
अब उठकर खड़ी हो चुकी है
टोस्टर से ब्रेड
निकल चुका है
मेज पर बैठे हैं पतिदेव
वह अंडे के लिए पैन चढ़ाती है
और कविता को
रुकने का संकेत करती है
जल्दी-जल्दी अंडा फ्राइ कर
प्लेट पतिदेव तक पहुँचा देती है

और घबराकर देखती है
खिड़की की ओर
कविता पीठ घुमा चुकी है
वह दौड़कर पहुँचती है
कविता के पास
'रुको! ओ कविता! रुको!
अब फुर्सत मिल गई है मुझे
अब तुमसे बातें करूँगी
तुम शब्दों का पिटारा
खोल दो मेरे लिए'
लेकिन उसकी बात पूरी होजी
इसके पहले ही
कविता गायब हो जाती है
ऐसे जैसे कभी आयी ही न हो
वहाँ गिरे थे कुछ शब्द
औरत
खुली खिड़की के बाहर झाँकती है
कि शायद वहाँ खड़ी हो
पर वहाँ वही दृश्य था
जो रोज रहता है
तब क्षुब्ध होकर वह
कुछ शब्द खिड़की से बटोरती है
कुछ चूल्हे पर से
कुछ खाने की मेज से
कुछ रसोई की फर्श से
कुछ अपने कपड़ों से
वह गूँथने लगती है
बटोरे गये शब्दों की माला
गहरे अफसोस के साथ।

बीत गया जमाना

कहाँ अतीत में चला गया
गप्पों का जमाना ?
वह जो होता था सच में
बातों का खजाना
उन बातों में होता था
चुंबक वाला रस
खिंचते लोग चले आते थे
उसमें जाते फँस
पर आनंद मनाते थे
साथ बैठकर बातों का
करते थे रसपान
गप्पों का सिलसिला जो चलता
तो अटूट चलता ही रहता
होती तरह-तरह की बातें
रंग-बिरंगी लाखों बातें
फलाँ-चलाँ बाबू की बातें
अगल-बगल की और अड़ोसी
तथा पड़ोसी की बातें
लैला-मजनूँ की बातें
चाची के दुःख की बातें
तो भाभी के सुख की बातें
मजेदार, चटकीली बातें
खट्टी-मीठी, तीखी बातें
मीठी और रसीली बातें
भूतों-प्रेतों वाली बातें
वो शानो-शौकत की बातें
दौलत और पैसे की बातें
और बहुत-सी भी होती थीं
आम बातें, खास बातें
लाल-हरी और उजली बातें
और भी होतीं काली बातें
बातों की महफिल ही जैसे
अंतहीन अनछोर समय की
नरम दरी पर जमती थी

आधी रात गुजर भी जाती
तो भी नहीं किसी की कोई
टोका-टाकी होती थी
उन्हीं रसीली बातों की
महफिल में मिल जाते थे
कभी-कभी दो दिल
और मुहब्बत हो जाती थी
गाँठें पक्की बँध जाती थीं
तो आपस में ही अकसर
पहचान घनी बन जाती थी
जो चलती थी जीवन-भर
आज कम्प्यूटर में डूबे
बच्चे नहीं जानते हैं
क्या होती है गप्प ?
घंटों बैठे बतियाना
और ठहाके मारना
बीच-बीच ले रस
वह मस्ती ! वह बतरस !
आज चींटियाँ बने सभी
दिनचर्या की एक कतार
भाग रहे हैं लगातार
समय से सोते और जागते
कंधों पर बस्ते का भार
व्यस्त हुए मोबाइलों में
जिनकी अनगिन खिड़कियाँ
देखते हैं दूर-दूर की
अनदेखी-अद्भुत दुनिया
कल्पनाएँ अजब-गजब
आँखों से आगे हैं सब
उनसे पूछो क्या वे आपस
में मिल बैठे गपियाये
अंतहीन सुध-बुध खोकर ?
नहीं जानते ये बच्चे
क्या होती है गप्प ?
बदल गये दिन, धत् !

नमक की तरह

पूरी पृथ्वी को चखकर देख सकते हो
स्त्री के हाथों का
स्पर्श-स्वाद मिल जाएगा
अपने गर्भ में रचकर
जन्म देने के बाद भी
शिशु को लगातार
एक कुम्हार की तरह गढ़ते हुए
जैसे कुम्हार देता है आकार
मिट्टी को बनाता है घड़ा
स्त्री रचती है
मानव का शरीर, मन, बुद्धि
एक मिट्टी के लोंदे को देती है जिंदगी
ईंट-सिमेंट की बेजान चारदीवारियों को
साँस लेते घरों में बदलने वाली
कोई औरत ही होती है
जहाँ फर्श की चिकनाहट में
समायी होती है उसकी हाथों की थकन
और रोटियों में समायी होती है उसकी जलन
खिलखिलाता है बच्चा
तो महँगे खिलौनों से नहीं
ओठों की उस छुअन से
जो उसे माँ से मिलती है लंच-बाक्स में
अपना प्यार भरकर देने वाली औरत
सबकी शिराओं में दौड़ती रहती है
खून बनकर
जहाँ-जहाँ गये उसके पैर वहाँ फैल गई खुशबू
जगह कोई हो
वहाँ छूट जाती है उसकी छाप
औरत घुली हुई है
जिंदगी की धार में स्वाद की तरह
पर उसकी कीमत
एक चुटकी नमक से ज्यादा
नहीं आँकी जाती है।

संपर्क: बृजबिहारी लेन, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर-८४२००३, मो. ९५७२९९१९९५

देवनाथ द्विवेदी

चमड़ी से दमड़ी का रिश्ता

पता है सबको
हालांकि दमड़ी किसी ने देखी नहीं होगी।
चांदी का कलदार रूपया भी किसने देखा होगा ?
अब एक रुपये का सिक्का भी बेआबरू सा हो गया !
एक टॉफ़ी या एक पान
या बीड़ी का बण्डल या एक चाय
कुछ भी नहीं खरीद पाता ये एक रूपया।
इसीलिये
सरकार ने हालांकि सिक्काबंदी नहीं की
लेकिन बाज़ार ने इसे ख़ारिज कर दिया
अब निजाम बाज़ार का है।
हम और आप बाज़ार के लिए
टैक्स देते हैं
वोट देते हैं
सामान बनाते हैं
अन्न उगाते हैं
पैदा होते हैं
या मर जाते हैं।
सरकार को मत कोसिये आप !
ये बाज़ार ही असली सरकार है।
दिन में फ़रमान जारी करती सरकारें
रात में बाज़ार से दिलजोई करती हैं।
सरकार ने नहीं
एक रुपये के सिक्के को
बाज़ार ने बेदखल कर दिया है।
बाज़ार ने कर दी है मुनादी
कुछ नहीं मिलेगा एक रुपये में।
धेला, अधत्री, चवत्री, दुअत्री
और अब एक रुपये का सिक्का भी।

सड़कें, इमारतें, विमान, कारें
इनकी फिक्र करती सरकार
बीड़ी , चाय , टॉफ़ी , पान
इस पर अपना दिमाग क्यों खपाए ?
ला भाई !
पांच रुपये वाली
एक कट चाय ही पिला दे !

भेड़ियों की चमकती आँखें

घना अँधेरा है
धुंध भी
और कुहासा भी
आस पास कंटीली झाड़ियाँ हैं
और डरावने जंगल भी।
तमाम सहमे, डरे और घबराए लोग
दूर टिमटिमाती रोशनी देख
आगे बढ़े चले आ रहे हैं।
अभी अभी
कुछ देर पहले ही
मैं भी यहाँ आ पहुँचा हूँ,
अँधेरे में भरोसा दिलाती, पास बुलाती
इन टिमटिमाती रोशनियों के पास।
इधर बढ़ते आ रहे लोगों तक
डर से घिग्घी बंधी मेरी आवाज
उन तक नहीं पहुँच रही !
कैसे कहूँ ?
और कैसे बताऊँ उन्हें ?
कि ये रोशनियाँ
हिसक आँखें हैं
भूखे भेड़ियों के झुण्ड की।

फलों के मौसम में

वो एक फलदार पेड़ है
 फलों के मौसम में
 फलों से लदा फंदा वो पेड़
 एक साथ खुश भी होता है
 और फ़ौरन ही उदास भी।
 चारो तरफ बाड़ है उसके
 परिंदा भी पर न मारे
 ऐसी ऊँची और मजबूत बाड़।
 जितने भी फल आते हैं उस पर
 पेड़ के मालिक की जरूरत से ज्यादा
 वे पकते और गिरते हैं
 गिरते और सड़ते हैं
 सड़ते और बदबू फैलाते हैं।
 यकीन तो नहीं होता
 गाँव वालों की बातों पर
 पर क्या पता सच ही हो...
 वे कहते हैं कि
 फलों के मौसम में
 वे अनगिनत बरसों से सुनते आये हैं
 उस पेड़ के रोने की आवाज़ ...
 उसके रोने की
 अजीब अजीब सी वजहें बताते हैं लोग
 लेकिन उन सभी वजहों में
 अनुपस्थित होता है हमेशा ही
 पेड़ का वो दबंग सा मालिक
 जिसके आगे सब के सब,
 और सबसे ज्यादा तो
 ये पेड़ ही है बेबस।

स्कूल जाती लड़कियाँ

मैंने लिखना चाहा
 एक जीवन्त कविता
 कविता, जिसमें चंचलता हो
 तितलियों की
 लुनाई शुक्लपक्ष के बढ़ते चंदा की
 गति किसी पहाड़ी नदी की
 और उड़ान किसी परिन्दे की ।
 इतने सारे बिम्बों को जमाया जब
 एक साथ क़रीने से....
 लेकिन आश्चर्य !
 वो कविता नहीं
 कविता की शक्ल में एक चित्र बना
 उस चित्र में स्कूल जाती लड़कियाँ थीं ।
 सधे कदम उनके
 तनी हुई गर्विली गरदनें
 सलीकेदार पहनावा
 आँखों में उजास भरे सपने
 मन में उल्लास की तरंगें
 होंठों पर स्मित हास्य
 और मीठी मीठी बतकही !
 हाँ, वो चित्र
 जिसमें लड़कियाँ थीं
 और वे खुशी खुशी जा रहीं थी स्कूल
 यही थी वो मनचाही कविता
 जो लिख सका मैं आखिरकार !

संपर्क: ए/९, अशोक विहार, इस्माईलगंज, फैजाबाद रोड, लखनऊ-२२६०२८, मो. ९९१९८९९८२७

शुभा उपाध्याय

मैं कर सकती थी

जब तुम घर के कामों को समेट
थक कर चूर हो
अनायास ही बैठे-बैठे झूलने लगती थी
तुम्हें बिछौने पर लेटने को कह
नींद से बोझिल तुम्हारी आँखों को
थोड़ी सी राहत-
दे सकती थी मैं।
अपने ही हाथों अपने पैरों को दबाते
जब तुम कराहती थी
तुम्हारे पास बैठ पल भर को
सहला कर तुम्हारे पैर
उस बेजुबान दर्द से आराम-
दे सकती थी मैं।
तेल-नून लकड़ी की जुगाड़ में
जब सुबह सबेरे से
कोल्हू के बैल के मानिंद चकरघिन्नी की तरह
दिन भर डोलती रहती थी तुम
तुम्हारे कामों में हाथ बँटा कर
पल भर का चैन सुकून-
दे सकती थी मैं।
धीरे-धीरे बूढ़ी होती तुम्हारी काया
जब छोड़ने लगी थी मेहनतकश मजदूरों की प्रवृत्ति
हर एक काम के बाद
थोड़ी देर को, हाँफने की मोहलत
तलावाती तुम्हारी निगाहें
न जाने किस याचना से भाराक्रांत हो
जब देखती थीं मेरी ओर
एक गिलास मीठा पानी
तुम्हारी ओर बढ़ा

ऊर्जा से सूखती तुम्हारी आँखों को
स्नेह की आर्द्रता-
दे सकती थी मैं।
कमर दर्द से बेहाल हो
बिस्तर पर पड़े पड़े
अपने ही हाथों से तेल लगाती तुम
दबी पीड़ा के भार से फफक कर
करूण विलाप करने लगती थी
तुम्हारे पैताने बैठ
तुम्हारी कोमल काया को हौले-हौले दबा
प्रेम की मालिश से
रूखी-सूखी काया को
अमृत बूंदों की जान-
दे सकती थी मैं।
बीमार थीं तुम
बेहद चिड़चिड़ी और जिद्दी भी
न कुछ समझतीं न समझने को तैय्यार
तुम्हारी बेढंगी बातों को
धैर्य से सुन
अपने बेकाबू गुस्से को थोड़ा सा काबू कर
बच्चे सा प्यार दुलार-
दे सकती थी मैं।
बिस्तर पर पड़े पड़े
निहारती रहती थीं जब तुम
घर के दरवाजों को
अक्सर ही तुम्हारे पास जा
तुम्हारे साथ तुम्हारी ही बातें कर
गले से लगाकर बोल बतियाकर
तुम्हारा शेष जीवन-

हरा भरा कर सकती थी मैं।
एक दिन जब तुम चली गई छोड़कर
वह सब कुछ जो कर सकती थी मैं।
मथने लगा है मन को
काश!

कि समय की होती कोई दूसरी गति
पहुँचा देता फिर से तुम्हारे द्वार
मासूम बच्चे सा
दुबुका लेती तुम्हें
और... और... और
कर सकती वह सब
जो—
मैं कर सकती थीं।

क्यूँ नहीं कहते

क्यूँ नहीं कहते
आकाश में बिखरा
मंद मुस्कुराता हर सितारा
मेरा है!
सागर के वक्ष पर
सगर्व इतराती हर लहर
मेरी है!
राकेश को छू कर
मचलती हर हवा पर, है
अधिकार मेरा!
सूरज की हर किरण
जो गर्म है... उष्ण है
मेरी मुट्ठी में कैद है!
अस्तित्व के लकीर पर
छाप है मेरी!
मोड़ है... तोड़ है
जो कुछ भी जोड़ है

जहाँ और जैसा भी है
ब्रह्माण्ड का तुम्हारे,
कण-कण मेरा, और
सिर्फ मेरा ही है!
क्यूँ नहीं कहते?

औरत की कमाई

यह एक औरत है।
औरत!
जो, कमाती है।
ओहदे पर ऊँचे
ए.सी. ऑफिस में,
गाड़ी से वह जाती है।
निश्चित ही
अच्छी-भली, रकम भी
वह लाती है।
कमाने ने उसे,
नई परिभाषा दी है।
'है वह स्वतंत्र' उसमें,
ऐसी एक आशा दी है।
औरत के कमाने में भी,
अजीब एक दर्द है।
रखेगा लेखा-जोखा जो सब,
वह एक मर्द है।
ओढ़ कर शालीनता
पहन कर मुस्कान मुँह में
ऑफिस की सीढ़ियाँ चढ़
औरत जो कमाती है—
कमाई को अपने,
रखने खरचने का,
बोलो, अरे बोलो—
अधिकार कहाँ पाती है?

संपर्क : खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता-700006, मो. 9830094793

डॉ. सुनील कुमार शर्मा

मुस्कुराती तुम्हारी मुस्कान

फूल कुछ लाये थे
 आज तुम मेरे लिए,
 और साथ में छोटी-सी एक मुस्कान
 मोड़ मुख तुमने लिया
 क्यों फिर उसके बाद,
 चाहते थे तुम तीव्रता
 या गहराईयाँ
 भावनाओं की मेरी नापना।
 या शायद फिर कुछ और
 चाहता था सजाना मैं तो
 उन फूलों को
 अपनी ही अभिलाषाओं से।
 चुन रहा था मन मेरा
 मेरी ही आशाओं की
 कुछ नवीन पंखुडियाँ तुम्हारे लिए।
 बटोर रहा था, मैं तो
 सुखद सभी उन अनुभूतियों को
 अचेतन सा बिखरा छोड़ गये थे
 जिन्हें तुम कल्पना पटल पर आज मेरे
 शायद अतीत के झरोखों में सजाने के लिए।
 आकुल सा था हृदय मेरा भी
 कहने को वो बहुत कुछ
 संजोया था जो मैंने
 सिर्फ तुम्हारे लिए।
 किंतु अनभिज्ञ से तुम

शब्द विहीन मेरे भावों से
 दूर बहुत कहीं चले गए
 रह गए शेष अपरिचित, अचंभित
 और कुछ खंडित से दोनों
 मूक मैं और तुम्हारी मुस्कान।

तुम ही से सीखना होगा

नदी,
 ओ नदी, ओ नदी।
 तुम क्या यही
 तो नहीं सोचती हो।
 कैसी बेबसी है ये,
 कौन सी अजीबत है,
 नहीं तुम बोलती हो।
 पर दिल में रखती हो
 और पिघल जाती हो।
 कवि हो तुम भी क्या,
 यूँ ही बदल जाती हो।
 लिखती हो
 अगनित कहानियाँ।
 बह जाती हैं जो
 लहरों को बना
 अपनी किश्तियाँ।
 अध्याय अध्यात्म का
 भी कैसा रचती हो।
 जो है पास
 उसी की खोज में

निकल जाती हो।
 पानी हृदय में लिए
 पानी से मिलने,
 पत्थरों को काट कर
 पहाड़ों को कूद-फांद कर
 चली जाती हो।
 देह पानी प्राण पानी
 आत्मा तुम्हारी पानी,
 शायद ब्रह्म भी तुम्हारा पानी हो।
 मन भी पानी सा तरल होगा,
 घृणा द्वेष हठ का कहाँ
 उसमें स्थान होगा।
 ढाई आखर प्रेम का
 तुम ही से मानव को
 सीखना होगा।

बदलियों पर

अब तक
 लिखते रहे।
 आग लपेट कर।
 सूखती नदियों,
 उजड़ते पहाड़ों,
 उजड़ते चिड़ियों के बसेरों
 गंधाते तालाबों
 के बीचों बीच बैठ कर
 लिखते रहे
 मचलती बदलियों पर,
 गिरती गिराती बिजलियों पर,
 रंग-बिरंगी तितलियों के पंखों पर,

भ्रमरों के गुंजन पर।
 कितने दिन और लिख पाएँगे
 बसंती घूँघट के नीचे
 एक दिन धुआँ ही धुआँ पाएँगे।
 फैला रही हवा में
 अपना साम्राज्य दूषित धुंध।
 धुंधलके में राज डाईनासेरों के
 गुम होने के भी
 कविताओं के बीचों बीच लहराकर
 एक दिन खड़े हो जाएँगे।
 बतलाओ तो,
 जहरीली होती धुंध में
 कितने दिन हम भी बच पाएँगे।

वहम ही रहा

मैल मन का था,
 निकल ही ना पाया।
 सिलसिला सा चला क्यों
 चलता रहा जो,
 चाहा पर, समझ ही न पाया।
 जिस्म था एक,
 अंतस भी एक
 संभाला बहुत पर संभल ही न पाया।
 शायद गुबार था भरा,
 निकल ही ना पाया।
 वहम था मैं हूँ,
 वहम ही रहा, मैं तक
 पहुँच ही ना पाया।

संपर्क : उप महाप्रबंधक (सामान्य) दक्षिण पूर्व रेलवे,
 गार्डनरीच, कोलकाता-700043, मो. 8902060051

ज्योति स्पर्श

एक दुनिया

निरे अकेले हो तुम जहाँ,
बादशाह की तरह,
भरी हुई भावना से
एक दुनिया मेरी है,
लोकल,
ऑटो,
४०७ के परोँ पर
धुरी है जिसकी,
जहाँ दिन
ढलते हुए
ऊँघने को तान कर सोता है,
सुख-दुःख की कठौती में
रोती-हँसती घोल कर रातें,
गूँथती हूँ
रोटी और पसीने के नमक से
भूख और भूखी सी दुनिया,
सालगिरह और डर के कई अवसरों पर
खींच-तान के बीच
बादशाह...
मैं तुम्हें याद करती हूँ
सुनो,
ऊबकर बादशाहत से
तुम भी,
मुझे सोचते हो क्या ?
क्या तुम सोचते हो
जीने के लिए
कितनी बार मरती हूँ।

और,
और क्या तुम चौंकते हो
जब मरती राहों पर
पगडंडी
जीने की बना लेती हूँ।

स्वाद

पटना के बोरिंग रोड में
'गया तिलकुट भंडार'
के नाम पर मिलने वाला
गुड़ का तिलकुट
मैं मूँद के पलकें
जनवरी के आते ही
रुमानियत से चखती और
हल्के दांत गड़ा कुतरती रही
ठीक वैसे ही हल्के-हल्के कि
जैसे हो वह तिल और गुड़ का प्रतिरूप
तुम्हारे निचले होंठ का
और ...बाद एकाकार के
जैसे हम,
मैं और तुम होते हैं
ऐसे ही मध्य जनवरी
शक्कर,
कतरनी चूड़ा, दही
अपनी सफेदी और मिठास में
मिलते-घुलते मथते रहे
मेरी इंद्रियाँ
मेरी जिह्वा
मेरा अंतस
तुम्हारे स्वाद से।

संपर्क : ३०२बी, श्रीहरिराधा अपार्टमेंट, सरदार पटेल पथ,
बोरिंग रोड, पटना- ८०००१३ मो. 8210759758

अनिता रश्मि

रास्ते

रास्ते चलते हैं
हम नहीं चलते
हम चलें तो
रास्ते कहाँ ले जाएँगे हमें
कहाँ पहुँचाएँगे
कुछ खबर भी है ?

विश्व गुरु

अमर्यादित
गंधित, दुर्गंधित
आज की राजनीति
क्या इसी देश को हम
विश्व गुरु कहते थे ?
कहेंगे ? कह सकेंगे ?

उस दिन

चलकर पास आई मेरी कविता
निकट, एकदम निकट
कानों के लबों से टकराई
कहा- मैं साथ हूँ
रहूँगी सदा
सदियों से सदियों तक !

किचें

किचें क्या लहलुहान करतीं
केवल मांस, मज्जा, अस्थि
या लहलुहान कर डालतीं वे
एक तिकोने से
लाल-नीले खूँ में लिपटे
धमनी-शिराओं के अनदेखे
जाल से बुने हृदय को भी।
किचें कांच की
देह को चुभती हैं तो
चोटिल एहसासों की मार
झेलते हैं मन
हिय पर बिखेरी गई किचें
पारदर्शी कांच की नहीं
कठोर पत्थर वाणी की
क्या इससे बचा नहीं जा सकता ?
एक मीठी, अनमोल बोली से
ऐसा क्या है जो
बेमोल खरीदा नहीं जा सकता ?

संपर्क : १ सी, डी. ब्लॉक, सत्यभामा ग्रैंड, एसबीआई के पास,
कुसई, डोरंडा, राँची, झारखंड-८३४००२

धर्मपाल महेंद्र जैन

चाँदनी ने कहा था मुझे

प्रेम पर आदि से लिखा है
लिखा जाएगा अनंत तक
यही तो है
जो हम सबके बीच
तब से तब तक है।
ये मोगरे जो तुम्हारे बालों में
गूँथता हूँ कभी और
तुम्हारे मन की सुवास भर
ये जो लौटाते हैं मुझे
आदि से ही रहे होंगे
इतने प्रेम में तुम्हारे संग
कि बार-बार, झर-झर कर
फिर-फिर खिल आते हैं।
यह दूधिया झरना
जिसकी शीतल फुहारें
तुम्हें अपने अंक में समेट
प्रपात की धार में ला खड़ा करती हैं
और ऊपरी चट्टान पर
तुम्हें चढ़ाने के लिए
मैं पाँव जमा रहा होता हूँ पत्थरों में
सदियों पहले भी यहाँ देखे थे मैंने
मौन और सम्मोहित

जब तुम मेरे साथ थीं यहाँ
पानी को पकड़ कर
नाचने के लिए।
ये बोरियों भरी लताएँ
जो तुम्हारे शाने पे
झुकी जा रही हैं
कि तुम हाथ उठाओ और
चख सको
इनका खट-मीठापन
उस वक्त की तुम्हारी मुस्कुराहट में
पेड़ भी खिलखिलाना चाहता है
सदियों पहले तुमने
जो गुठली रोपी थी कहीं
बार-बार उगी है
तुमसे मिलकर शुक्रिया कहने।
शाम ढलने का वक्त जानती है
चहचहाते पंछी
अपने बसेरों की दिशाओं में हैं
तुम्हारी धुंधली होती छाँह के मायने
मत समझाओ
मुझे कहीं नहीं जाना है
सदियों पहले चाँदनी ने कहा था मुझे
तुम तब और भी अच्छी लगती हो।

माँ तुम कैसे हँस लेती हो

किरणें जब
रजाई में घुसने को आ जाती हैं
मैं खुद ही उठ जाता हूँ बिस्तर से
मालूम है कि अब तुम नहीं हो।
नहा लेता हूँ चुपचाप
दीपक की लौ
साक्ष्य बनती है तुम्हारे मंत्रों की
अब आँखें नहीं भींगती
तुम्हारी याद में।
चाय की चुस्कियों के साथ
मैं बहुत बड़ा हो गया हूँ
समय के काँटों के साथ
कदमताल करते हुए
तुम मुझे अब देखती तो
बहुत खुश होती माँ।
बहुत तेजी से चलता है सूरज इन दिनों
थक भी जाता हूँ तो गोद नहीं तलाशता
अपने बच्चों के सवाल में उलझ जाता हूँ
काम इतने हैं कि बस...
माँ तुम कैसे हँस लेती थीं
दिन भर के काम के बाद।
बहुत दिन हो गए मुझे खुल कर हँसे
इसके सिवा सब ठीक है तुम्हारे बिना।

संपर्क: 1512-17 Anndale Drive, Toronto M2N2W7, Canada

मैं अब भूलने लगा हूँ

मत देखो मुझे हिकारत से
मेरी यादें मेरा साथ छोड़ रही हैं
साथ तो शरीर भी छोड़ रहा है
मैं भूल जाता हूँ हर बार
अपने ही कहे शब्द
और मेरे जेहन में देर तक
ठहरता नहीं कुछ भी
मैं देखता हूँ तुम्हारे चेहरे की खीज़
और झेंपता हूँ
जोर डालता हूँ
शब्द बह जाते हैं
मैं यादों की पतवार बना
उसे अपनी नाव में बिठाना चाहता हूँ
शब्द के नाव उम्र की बाढ़ में गह जाते हैं
बस मुझे तुम्हारा चेहरा याद है
तुम्हारी हँसी
तुम्हारे बचपन के सवाल
जिसे तुम बार-बार दुहराते थे
मैं कभी नहीं थकता था उन सवालों से
तुमने अभी-अभी कुछ कहा
मुझे बार-बार समझाया
मैं फिर भूल गया हूँ
परेशान हूँ
मैं अब शब्दों से डरने लगा हूँ
उसकी चालकियों से

उसके घमंड से
जो मुझे कह रहे हैं
मैं नहीं तो तुम कुछ भी नहीं
मेरे बच्चे ठहरो जरा
मेरा हाथ थाम लो
मुझे भरोसा दो
शब्दों के बिना भी कुछ है
जो हमसब के भीतर बहता है
जैसे चुपचाप कहती है नदी
जैसे आसमान में इंद्रधनुष के रंग
जैसे शाखों पर बिना कुछ कहे
खिल जाते हैं फूल
तुम
मेरे मन को समझ लेना
उम्र की इस नदी में मैं डूब रहा हूँ
तुम हाथ देना
मुझे तुम्हारा स्पर्श याद है
भरोसे और प्यार से भरा
मैं अब नहीं डर रहा हूँ शब्दों से
शब्द हैरान हैं
शब्दों के शोर में
बिना कुछ कहे कौन समझ सकता है
मैं हँसता हूँ
मेरे हाथों को
तुम्हारे गर्म और खूबसूरत हाथों ने
थाम जो लिया है।

दिल के खोह से बाहर निकल आओ प्रेम

दिल के खोह से बाहर निकल आओ प्रेम
तुम्हें वर्षों पड़े रहने की आदत हो आयी है
तुम ही तो थे जो बरसते थे
और भींग जाता था मन का पोर-पोर
नदियाँ अब भी बहती हैं
खिलते हैं कचनार के फूल
विशाल वृक्षों की शाखाएँ
चाँद रातों में झुक जाती थी
भोर होने तक
हमारे आँगन महक उठते थे
एक नाजुक त्वचा की गंध
अधखुले ओठ,
हिम जैसे श्वेत फेन में
डूब जाते थे हम
मैं पूछती थी क्या है जो,
तुम निहार रहे हो
तुम कहते तुम्हारा मन जो
हरे-हरे बांस की तरह बज उठा है
हवा गुजरती है सुर के झरने बहते हैं
उठो फिर जन्म लो
गहरे-गहरे डूब जाओ
प्रेम...

संपर्क : ३/सी, नागेश्वर विहार अपार्टमेंट,
बुद्ध कॉलोनी (नियर हास्पिटो इंडिया), पटना

मेरी कविता मेरे समय का प्रामाणिक दस्तावेज है उद्भ्रांत

मेरे लिए कविता समय की सच्चाइयों से एक आत्मीय साक्षात्कार करना रही हैं। कविता के माध्यम से मैं स्वयं के भीतर उतरा हूँ—निजत्व की खोज के लिए—स्वयं के परिष्करण के लिए। कविता मेरे लिए एक बेहतर मनुष्य की खोज है। कविता मेरे लिए सामाजिक बदलाव का एक साधन भी है। मेरे जीवन के समस्त सुखद और समस्त भयावह पलों की साक्षी मेरी कविता है—मेरे समस्त रागों—विरागों की। मगर मेरी कविता सामाजिक सरोकारों से अलग नहीं। वह जीवन की कठोर चुनौतियों को स्वीकारती है, उन्हें ललकारती है और जूझने के ही लिए नहीं—विजय होने के लिए समर में उतरती है। मेरी कविता मेरे समय का प्रामाणिक दस्तावेज है—संघर्ष करते समय का, लहलुहान होते समय का।

मेरी कविता का अर्थ जातिगत, संप्रदायगत, भाषागत, क्षेत्रगत और राजनीतिगत संकीर्णताओं से परे है। मेरी कविता परंपरा की जड़ों से पोषित हुई है और प्रयोग के शिखर की ओर बढ़ी है, हिंदी ही नहीं—अन्य भारतीय भाषाओं के भी अपने समस्त पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों से मेरी कविता ने प्रेरणा ली है, ऊर्जा ली है और अपनी पहचान बनाने के लिए ऋणी रही है—मेरी कविता उन सबके प्रति। कविता मेरे लिए सघन अँधेरे के विरुद्ध एक सतत् संघर्ष है। उस संघर्ष में निर्णायक विजय के उद्घोष का नाम है मेरी कविता। पौराणिक प्रतीकों को, मिथकों को—मौजूदा समय के यथार्थ की कसौटी पर कसना भी मेरी कविता का सरोकार रहा है। कविता के प्रायः सभी रूपों में मैंने स्वयं को अभिव्यक्ति दी है। स्वयं को मूलतः कवि मानन के बावजूद, मेरे सृजन में कविता से इतर विधाएँ भी शामिल रही हैं, इसलिए, यदा—क्रदा मेरी कविताओं में आपको कथा—तत्त्व, नाट्य—तत्त्व, विचार—तत्त्व भी प्रतिबिंबित होते हुए मिलेंगे। मेरे लिए कविता का वही मूल्य है, जो एक मां के लिए अपनी संतान का; इसलिए मैंने अपनी प्रारंभिक कविताओं को भी न केवल सुरक्षित रखा, अपितु, सार्वजनिक रूप से उन्हें स्वीकारते हुए उनका प्रकाशन भी कराया—उनके सृजन की चौथाई शताब्दी से अधिक की अवधि गुजर जाने के बाद—वर्ष १९८६ में! बहुत से अपने अन्य मित्र—रचनाकारों की तरह मैं उन्हें खारिज नहीं कर सका—नष्ट नहीं कर सका, उसी तरह जैसे दुनिया की कोई माँ—अमानवीय अपवादों को छोड़कर—अपनी कुरूप से कुरूप और अंगभंग हुई संतान को भी मृत्यु देने, खारिज करने या नकारने का साहस नहीं जुटा सकती! मेरी कविता मनुष्य के भीतरी सौंदर्य की मंत्र—कविता है, वह समयगत सच्चाइयों से जूझती योद्धा—कविता है और बेहतर मनुष्य के निर्माण में संलग्न बेचैन कविता है। इस तरह सौंदर्य की घनी अनुभूति करता, सत्य से साक्षात्कार करता और छद्म पर चोट करता, कठोर यथार्थ से टकराता और लहलुहान होता—मगर जीत का स्वप्न अपनी आँखों में लिये छटपटाता—एक नितांत साधारण, निम्न—मध्यवर्गीय पुरुष मेरी कविता की भूमि के केंद्र में है।

सेंध

सुबह उठना है तड़के,
बत्ती को बंद कर
बिस्तर पर गया
साढ़े ग्यारह बजे।
अँधेरा तो था ही,
आँखों के मुख्य द्वार
को भी किया बंद।
निद्रा देवी का
किया आह्वान;
जैसे समय के प्लैंचेट पर
मृतात्मा-प्रकाश का करे कोई!
कोई सुगबुग नहीं।
दाँयी, फिर बाँयी,
फिर दाँयी,
फिर बाँयी ओर;
करवटें बदलता रहा बार-बार।
लेटा शवासन में चित्त,
फिर पट्ट हुआ-
तकिये को पेट से सटाए।
नहीं कोई झंकृति!
सेंध लग चुकी थी
नींद के कच्चे बालू के भवन में।
कोई चोर कर रहा था।
आहिस्ते से-
अपना काम
तब मैंने
अँधेरे में आँखें खोलकर देखा
सेंध लगी थी
आज़ादी में
सपना जो
देखने चला था मैं
उसमें सेंध।
परम्परा में भी,
विद्रोह में।

हैरत की बात थी-
सेंध लगानेवाला
चोर भाव से नहीं,
निधड़क हो
स्वामिभाव से-
लगा रहा था सेंध!
शायद उसे ज्ञात था कि
पीछे के चोर-द्वार का निकास
सीधे जुड़ जाता था-
सभी अमूल्य चीजें
औने-पौने दाम में बेचने वाले
शहर के अकेले
लेकिन बड़े प्रसिद्ध
चोर बाज़ार से!
कविता में सेंध लगाती हुई
शातिर चोर कल्पना-
हठपूर्वक- वस्तुतः-
जीवन के सुदृढ़ किले में
लगा चुकी थी सेंध!

चश्मा

सत्तर वर्ष पूर्व
जब सारी दुनियाँ सोई थी
आधी रात बीतते ही
मेरी शताब्दियों की
कल्पनातीत कुम्भकरणी नींद खुली।
उठते ही मैंने
जनता-जनार्दन से
भेंट में मिले
लबादे को किया धारण,
संघर्ष के पथरीले रास्ते पर चलते
सख्त पाँवों को
पहनाए इम्पोर्टेड जूते,
सृजनकर्मी हाथों को
अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी की उँगलियाँ। शर्मसार भी!

मस्तिष्क को रख दिया रेहन पर
और समान भाव से सबको देखनेवाली
निष्पाप आँखों को
आधी शताब्दी बीतते न बीतते
पहनाया चश्मा रंगीन।
रंगीन चश्मा धारण करते ही
भूल गया
साधारण कमानी वाले उस चश्मे को
जिसे पहनकर ही मुझे
लोक की पहचान मिली
ताक़त भी।
आज जब याद उसकी आई
तो याद आया :
आज के ही दिन मेरी ग़लती से
गिरा था वह सड़क पर,
और जब तक
नीचे झुक
उठाता उसे,
किसी क्रूर, उन्मादी
और विक्षिप्त
बूट के तले आकर
कुचला जा चुका था वह।
यह विवश स्मृति
जब आई चमककर तो
स्वाभाविक रूप से
अपनी खोई अस्मिता,
परम्परा से,
न्याय से और
सहिष्णुता से
मुझे रूबरू
होना ही था!
चाहे पाखंड हो
दूसरों को दिखाने हेतु-
होना
शर्मसार भी!

मेरे पास कविता का सूरज है

मेरे पास
कविता का
सूरज है।

तुम
जो बरसों से
अँधेरे कमरे में बंद
हाथ-पाँव मार रहे,
तुम्हारी मजबूरी है;
मुझे इस रौशन ब्रह्माण्ड में
लालटेन की
क्या जरूरत है!
कविता का सूरज है
मेरे पास।

अथ उलूक कथा

जब हम उसकी चर्चा करते
मन-ही-मन हँसते-गुदगुदाते
उसे उलूक की संज्ञा से करते हैं
अभिहित
तब अँधेरे समय के वृक्ष की
अदृश्य कोटर में बैठा वह
अपनी चमकीली आँखों से
मुदित मन
साफ-साफ देखता हमें
करुणा से,
कि व्यंग्य से,
कि विद्रूप से!
अपने भीतर
हँसी के गुब्बारे फोड़ता,
गणित के अंकों को जोड़ता,
और एक से
अट्टानबे तक की
गिनती का पाठ कर
निन्यानबे को उछालता हमारी ओर,

जिसे देखते ही हम बौरा जाते,
क्योंकि उसकी दोहरी आकृति
हमें लगती
नंबर दो की भयभीत देवी की तरह;
जो अपनी
मायावी शक्ति के बल पर
हमारे और उलूक के बीच
परस्पर-परिवर्तन का बानक
कर देता उपस्थित।
और परिणाम तो है प्रत्यक्ष-
उलूक महोदय
दिन-प्रतिदिन
दुर्लभ हो रहे हैं,
और हम ?
परम सुलभ!

ईश्वर एक विचार है

पानी से भरी बाल्टी में
एक चींटी को देखा
ऊभ-चूभ होते।
तब उस महासमन्दर से,
कि उस जीव के भीतर से उठी
किसी अदृश्य पुकार से विवश हो
उँगली को बनाकर पतवार और
हाथ को नौका
आहिस्ते से निकाल
पृथ्वी की गोद में
पहुँचाया सुरक्षित उसे।
सवाल एक
तब से
उसके समक्ष
खड़ा है मुँह बाये-
घड़ी-घड़ी
दिन प्रतिदिन
जिस नामालूम ईश्वर का

जाप करते रहते हम
वह आखिर था कहाँ-
जल में
कि चींटी में
कि... ?

मेरी संतान

अक्सर टी.वी. पर
फिल्म का कोई भावुक दृश्य,
या कभी-कभार कोई नाटक देखते,
या पढ़ते कोई मर्मस्पर्शी संस्मरण,
उपन्यास या कहानी,
कोई ललित निबंध,
यहाँ तक कि
कबीर
कि निराला
कि मुक्तिबोध
के काव्य की आलोचना तक;
आँखें हो जातीं नम
मीरा के पद तो
आधिकारिक आमंत्रण ही होते
आँखों में अनायास-
तिर आये जल का।
आखिर यह क्या है ?
और कैसे है ?
लगता है कि मैं
अनंतकालीन समय से रही आई
बालू का एकमात्र दूह
जिसकी छाया में रह
मेरी ही संतान-
मुझको,
कि मेरे समय को
पहचानने
उसके वास्तविक स्वरूप में-
कर रही संघर्ष
जन्म लेने के वास्ते।

परिचय:

जन्म: ४ सितम्बर, १९४८ ई. नवलगढ़ (राज.) – कानपुर में शिक्षा-दीक्षा : वर्ष १९५९ से रचनारंभ। प्रकाशित पुस्तकों की संख्या शताधिक, प्रियदर्शनी अकादमी का 'प्रियदर्शनी' सम्मान (त्रेता), म. प्र. साहित्य अकादमी का भवानीप्रसाद मिश्र पुरस्कार (अनाद्यसूक्त), हिंदी अकादमी का 'साहित्यिक कृति पुरस्कार' (लेकिन यह गीत नहीं), उ.प्र. हिंदी संस्थान के 'जयशंकर प्रसाद पुरस्कार' (स्वयंप्रभा) और 'निराला पुरस्कार' (देह चांदनी) उल्लेखनीय हैं। कानपुर में प्र.ले.स. के सचिव रहे; अनेक भारतीय भाषाओं में रचनाएँ अनूदित। सरकारी, निजी दर्जन भर संस्थानों में विभिन्न पदों पर कार्य के बाद भारतीय प्रसारण सेवा, '९० के अंतर्गत चयन। मई २०१० में अवकाश-ग्रहण के समय उपमहानिदेशक। हाल ही में विगत २ जून, २०१८ को रूस की राजधानी मास्को में 'राधामाधव' (महाकाव्य) पर 'प्रथम गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर अंतरराष्ट्रीय साहित्य सम्मान' से सम्मानित हुए।

प्रमुख पुस्तकें : 'त्रेता' एवं 'अभिनव पांडव' (महाकाव्य), 'राधामाधव' (प्रबन्ध काव्य), 'स्वयंप्रभा' एवं 'वक्रतुण्ड' (खण्ड काव्य), 'अनाद्यसूक्त' (आर्ष काव्य), 'ब्लैकहोल' (काव्यनाटक), 'प्रज्ञावेणु' (गीता का मुक्तछन्द में यथारूप पुनर्सृजन), 'अस्ति', 'इस्तरी', 'हँसो बतर्ज रघुवीर सहाय', 'देवदारु-सी लम्बी गहरी सागर-सी', 'शब्दकमल खिला है', ('नाटकतन्त्र तथा अन्य कविताएँ' ए 'काली मीनार को ढहाते हुए' (सभी समकालीन कविताएँ), 'लेकिन यह गीत नहीं', (नवगीत), 'मैंने यह सोचा न था' (गज़ल), पुस्तक का श्री रामप्रसाद शर्मा 'महर्षि' द्वारा रूपांतरित उर्दू संस्करण भी प्रकाशित, 'नक्सल' (लघु उपन्यास), 'डुगडुगी' (कहानियाँ), 'उद्भ्रांत : श्रेष्ठ कहानियाँ', 'कहानी का सातवां दशक' 'मेरी प्रगतिशील काव्य-यात्रा के पगचिह्न' (संस्मरणात्मक समीक्षा) तथा 'आलोचना का वाचिक' (वाचिक आलोचना), तथा 'आलोचक के भेष में' एवं 'मुठभेड़' (आलोचना), 'समय के अश्व पर' (गीत-नवगीत), 'शहर-दर-शहर उमड़ती है नदी', 'स्मृतियों के मील-पत्थर' और 'कानुपर ओह कानपुर!' (संस्मरण), 'चंद तारीखें' (डायरी), 'मेरे साक्षात्कार' (इंटरव्यू), 'ब्लैकहोल', 'अनाद्यसूक्त', 'अभिनव पाण्डव' और 'राधा माधव' के अंग्रेजी अनुवाद तथा 'राधामाधव' का उड़ीया अनुवाद भी प्रकाशित, 'मैंने जो जिया' (आत्मकथा)।

संपादन : लघु पत्रिका आंदोलन और युवा की भूमिका, पत्र ही नहीं बच्चन मित्र हैं, युवा, युग प्रतिमान (पाक्षिक) एवं पोइट्री टुडे।

कवि-मूल्यांकन : डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित, डॉ. नित्यानंद तिवारी, डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित, डॉ. कर्णसिंह चौहान, डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय, कैवल भारती, डॉ. लक्ष्मीकांत पांडेय, डॉ. द्वारिका प्रसाद चारुमित्र, अपूर्व जोशी, अनिरुद्ध सिन्हा, राष्ट्रबंधु, शीतल सेटे आदि विद्वानों द्वारा लिखित और संपादित लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकें प्रकाशित।

स्थायी पता : 'अनहद', बी-४६३, केन्द्रीय विहार, सेक्टर-५१, नोएडा-२०१३०३

दूरभाष : ०१२०-२४८१५३०, ०९८१८८५४६७८

ई.मेल : udbhrant@gmail.com

काया कल्प

सुषमा मुनीन्द्र

विकास की ओर अग्रसर कस्बेनुमा शहर।
कस्बेनुमा शहर का पहला मेल ब्यूटीशियन।
वन एण्ड ओन्ली।

काया कल्प (ब्यूटी पार्लर) के प्रवेश द्वार के ठीक सामने वाली बला की सफेद दीवार पर लिखा है- हम आपको सुंदर ही नहीं बनाते, सुंदर होने और दिखने का एहसास भी देते हैं। बाईं ओर की दीवार पर टाँगे गये- सर्टिफिकेट इन ब्यूटी, हेयर एण्ड स्किन ट्रीटमेन्ट, डिप्लोमा इन बेसिक ब्यूटी कल्चर, एडवांस डिप्लोमा इन हेयर कटिंग, हेयर स्टाइलिंग, ब्राइडल मेकअप, मेंहदी..... जैसे सर्टिफिकेट बताते हैं काया कल्प के संचालक मृदुल में कैसी-कैसी विशेषताएँ विद्यमान हैं। सर्टिफिकेट्स से बची दीवार में टँगे विशाल चार्ट में, दी जाने वाली सेवायें और लिया जाने वाला निर्धारित शुल्क लिखा है।

कस्बेनुमा शहर के इस सफल पुरुष सौन्दर्य विशेषज्ञ के लिये काम शुरू करना आसान नहीं था। मृदुल जानता था लड़कियों के साथ उसे और लड़कियों को उसके साथ असुविधा होगी। क्रेडीबिलिटी का खास ध्यान रखना पड़ेगा। पार्लर के साथ शुरू हुई क्रेडीबिलिटी आज भी कायम है। शुरुआत में उसकी हैसियत सहायिकायें रखने जैसी नहीं थी। पार्लर में आने वाली युवतियों-महिलाओं को वह स्वयं सेवायें देता था। जबसे सहायिकाओं की अच्छी संख्या हुई वह लड़कियों से सुरक्षित दूरी बनाये रखते हुये निर्देश देता है। सहायिकायें निर्देश पर अमल करते हुये सेवायें देती हैं। जब जरूरत होती है वह लड़कियों की त्वचा को उँगलियों के पोरों से ऐसी सावधानी के साथ छूता है कि छूना लाजिमी लगता है। शुरुआत में लड़कियाँ डरती-लजाती थीं। अब यहाँ आने का इतना अभ्यास हो गया है कि विचार नहीं करतीं उनके बेहद समीप खड़ा तीस साल का युवक दरअसल उनकी त्वचा को छू रहा है। पार्लर के छः दिन महिलाओं और इतवार पुरुषों के लिये तय किया गया है। युवक और पुरुष बाँडी मसाज, फेशियल, हेयर कलर जैसी क्रियाओं के लिये आते हैं। कुछ आई ब्रोज बनवाते हुये पाये गये हैं। मृदुल की पाँच फुट, छः इंच वाली दुबली देह को लक्ष्य कर मित्र कहते थे- यह लड़कियाँ नहीं पटा सकता। इसके चेहरे में न मर्दानगी है, न बाजुओं में जोर। अब यही मित्र अपने चेहरे की टोनिंग और देह की मालिश करवाते हुये उसके नसीब को सराहते हैं-

“मृदुल कुमारियों से घिरे रहते हो। समय कैसा बीत रहा है?”

“डर-डर कर। माय पोजीशन इज लाइक बत्तीस दाँतों के बीच जीभ। कुछ गफलत हो जाये और कोई कुमारी, महिला थाने में रिपोर्ट कर दे मृदुल ने छेड़ा है तो काया कल्प में ताला लग जायेगा।”

“हमारे पास तुम्हारे जैसे मौके हों तो हम रोज नई कुमारी से इश्क करें। हमें वीक डेज पर बुलाओ।”

“नेवर। ब्रो (ब्रदर) आय डोंट कम्प्रोमाइज विद माय काम। मैं बहुत प्रोफेशनल हूँ। देखते ही हो, तुम लोगों को फूटी कौड़ी भी डिसकाउण्ट नहीं देता।”

सचमुच।

कोई लड़की नजाकत दिखा कर चार्ज कम कराना चाहती है, यह चार्ट की ओर तर्जनी तान लेता है— “नो डिसकाउण्ट। चार्ट में लिखा है, किस काम की क्या फीस है। पढ़ले और जोड़ कर दे दे।”

काया कल्प दिन भर लड़कियों के कलरव कहकहों से भरा रहता है। वैवाहिक मुहूर्त में व्यस्तता बढ़ जाती है। दुल्हनें तैयार होने आती हैं। दहेज, पति, ससुर की चालाकी, सास की चालबाजी, वैवाहिक रीति-रिवाजों पर बात करती हैं। मृदुल हँसता है—

“तुम लोग सास और ससुराल की कितनी बुराई करती हो। मैं शादी नहीं करूँगा वरना तुम लोगों की तरह कोई मुझे चिपकू कहेगी, और मेरी माँ को मोटी भेंस। डिसगस्टिंग। तुम लोगों को शादी करनी है, शादी से नफरत भी करनी है। तय करो क्या करना है? संध्या तू कह रही है तेरा होने वाला पति चिपकू है लेकिन तेरे बाप राम तेरी आपत्ति को नहीं मान रहे हैं कि सूरत सब कुछ नहीं होती, चिपकू अच्छा आफीसर है। यह बता चिपकू के लिये अपने रूप को क्यों निखार रही है?”

नियमित क्लाइंट संध्या का फेशियल कर रही असिस्टेंट चंचल ने जवाब दिया “सर, अब तो दूल्हे भी रूप निखारते हैं। मैंने एक शादी में देखा, क्लीन शेव्ड दूल्हे ने ऐसा फाउण्डेशन पोत रखा था कि तेज प्रकाश में भूत लग रहा था।”

“गुड। ब्यूटी के दीवानों की संख्या बढ़ेगी, मुझे बिजनेस मिलेगा।”

पूरी तरह तैयार होकर संध्या का चेहरा एकदम चमकदार और ताजा लगने लगा। मृदुल ने सराहना की—

“लुकिंग सुंदर। शकल से अमीरजादी लग रही है। जाते-जाते ब्यूटी टिप्स लेती जा। चेहरे के रोम छिद्र

छिपाने के लिये तू यह जो बहुत अधिक लूज पाउडर थोप लेती है, भद्दा लगता है। माई लेडी, ससुराल में लूज पाउडर का इस्तेमाल कम करना।”

मृदुल, लड़कियों को इस मिठास से तू कहता है मानो इज्जत बख्शा रहा है।

“लूज पाउडर नहीं, तो क्या थोपूँ?”

“सेव, संतरा, गाजर, पपीता, टमाटर, ककड़ी, आलू जो मिले उसका गूदा या रस थोप लेना। कुदरत ने तुम कुमारियों की सुंदरता के लिये बहुत कुछ बनाया है।”

“मैं काया कल्प पहली बार आई तब एक्ने से कितनी परेशान थी। सर आपने बहुत अच्छा ट्रीटमेंट दिया।”

“तुम लोगों की कमियों में पर्दा डालने के लिये ही मैं यहाँ बैठा हूँ। त्वचा को डाइरेक्ट धूप से बचाना। वैसे तेरा अफसर मियाँ तुझे धूप से बचा कर रखेगा।”

शुरुआत में लोग ही नहीं मृदुल की माँ भी उसके काम को पागलपन नहीं तो बेवकूफी जरूर मानती थी। अब उसे गजब का पैसा पीटते देख हतप्रभ है। चार बेटियों के बाद जन्में चिराग ने इतनी आपत्ति, इतने हस्तक्षेप के बावजूद अपने हुनर को कितना सही पहचाना। नियति कहें या रुझान। किशोर मृदुल, बहनों के क्रीम, लोशन अपने चेहरे पर पोत लेता था। नेल पॉलिश के शेड्स उसे लुभाते थे। ब्यूटीशियन का कोर्स कर रही सबसे छोटी बहन अनुरागिनी के नाजुक पतले ब्रशों को गौर से देखता—

“माँ, मैं पार्लर खोलूँगा। लड़कियों को सजाऊँगा।”

मृदुल के जन्म के कुछ साल बाद पति खो चुकी माँ घबरा जाती “मृदुल, लड़कियों के रंग-ढंग मत सीखो। पढ़ो।”

पढ़ाई पर माँ का बड़ा जोर रहा लेकिन मृदुल कठिनाई से बी.कॉम पास कर पाया—

“मेरा पढ़ाई में बिल्कुल मन नहीं लगता।”

“मृदुल, तुम बिना पढ़ाई के कुछ नहीं कर सकते।”

“सचिन तेंदुलकर बिना पढ़ाई के अरबपति है।”

“सचिन बनने चले हो। बल्ला ठीक से पकड़ नहीं सकते।”

“ब्रश तो पकड़ सकता हूँ। माँ, अनुरागिनी दीदी के ब्रश काम के हैं।”

तीन बेटियों को मृदुल के पिता ब्याह गये थे। बेवफा अनुरागिनी अन्तर्जातीय विवाह कर माँ को संताप दे गई –

“उसका नाम न लेना। अपने कपड़े-लत्ते के साथ ब्रश भी बाँध ले जाती तो अच्छा होता।”

“थैंक गॉड। नहीं ले गई। ब्रश मेरे काम आयेंगे। मैं पार्लर खोलूँगा।”

“यह कस्बा है, भद्र पिटेगी।”

“फिल्म इण्डस्ट्री, फैशन वर्ल्ड में बड़े नाम वाले ड्रेस डिजाइनर, मेकअप मैन् हैं। उनकी बहुत इज्जत है।”

“भद्र पिटेगी। यहाँ एक लड़का जिम जरूर चलाता है, ब्यूटी पार्लर चलाते मैंने किसी लड़के को नहीं देखा।”

“मैं जिम खोलूँगा।”

“तुम्हारा डेढ़ पसली का शरीर देख कर तुम्हारे जिम में कोई नहीं आयेगा। अपनी बॉडी बना लो, फिर दूसरों की बनाना।”

“बॉडी बनाऊँगा।”

अब यहाँ तीन जिम हैं तब एक था। चार-छः लड़के जो कस्बे के हिसाब से खुद को बॉलीवुड नायक मानते थे शारीरिक सौष्ठव बनाने आते थे। फूली हुई मजबूत मांसपेशियों वाले उन लड़कों ने मृदुल पर अचम्भित नजर डाली थी-

“यहाँ क्यों आये हो ?”

“मसल्स बनाने।”

मसल्स वे बनाते हैं जिनकी पहले से कुछ बनी होती है। जैसे हम। तुम आधे हो जाओगे। पहले ही आधे हो।

उल्टा-सीधा व्यायाम कर मृदुल सचमुच आधा हो गया। माँ दहशत में –

“मृदुल क्या चाहते हो ?”

“ब्यूटी पार्लर। इस काम में फन है, फंड है। ग्लैमर है, क्रियेशन है।”

“कोर्स कहाँ से करोगे ?”

“सब मालूम कर रखा है। मुम्बई जाऊँगा।”

कॉस्मेटिक्स साइंस की जानकारी हासिल कर, विधिवत प्रशिक्षण प्राप्त मृदुल ने स्मार्ट और स्टाइलिश बन कर मुम्बई से वापसी की।

“माँ, सौन्दर्य की दुनिया और उससे जुड़ी समस्याओं का अंत नहीं है। लोगों को एक ही धुन है। जवान कैसे बने रहें? सुंदर कैसे दिखें? मैं तुम्हारे चेहरे के दाग, धब्बे, झाँझियाँ खत्म कर दूँगा।”

माँ को दीवान पर चित्त कर मृदुल ने उनके चेहरे में क्या-क्या क्रिया कर डाली। माँ को शीतलता और सुगंध अच्छी लगी-

“पार्लर शुरू करो।”

“यस। नो देरी इन शुभ काम।”

पिता द्वारा अच्छी लोकेशन में बनवाया गया दो मंजिला मकान वरदान साबित हुआ। नीचे निवास। ऊपर पार्लर। मुंबई और कस्बे के प्रचलन-परम्पराओं में बड़ा अंतर है। कस्बे ने काया कल्प को आलोचना से देखा-मर्दानगी खोकर लड़के, लड़कियों वाले काम करने लगे हैं। अलग मोहल्ले में रहने वाले मृदुल के चाचा ने पृथक बात की “भाई (मृदुल के पिता) होते तो मृदुल नउआ (नाई) न बनता। हमारे गाँव में बाल काटने, मालिश करने का काम नउआ करते हैं।”

मृदुल आलोचना पर चित्त नहीं धरता था। अड़चन यह थी लड़कियाँ काया कल्प की ओर रुख नहीं कर रही थीं कि इसे मेल ब्यूटीशियन संचालित कर रहा है। जतन करते हुए मृदुल ने सौन्दर्य समस्यायें सुलझाने के लिये फ्री कंसलटेन्सी शुरू की। लाभ न हुआ। खाली समय बिता रहे मृदुल ने अपने गुरु जिनसे मुम्बई में काम सीखा था, को फोन कॉल किया। रहम दिल गुरु बोले “तुम मेरे बेहतरीन शागिर्द हो। यहाँ आकर मुझे असिस्ट करो वहीं रहना चाहते हो ? ... कुछ टिप्स दे रहा हूँ।”

टिप्स पर अमल करते हुये मृदुल ने अपने गुरु के साथ वाली अपनी तस्वीर, जिसमें करीना कपूर भी थी, को अच्छी न्यूज के साथ अखबार के स्थानीय संस्करण में छपवाया-

शहर के उदीयमान सौन्दर्य विशेषज्ञ काया कल्प ब्यूटी पार्लर के संचालक मृदुल मुम्बई के सौन्दर्य विशेषज्ञ श्री सुदर्शन से प्रशिक्षण प्राप्त कर स्थानीय लोगों को सेवा देने के लिये कृत संकल्प हैं। सुदर्शन फिल्मी हस्तियों का मेकअप करते हैं। गुरु के आग्रह के बावजूद मृदुल ने मुम्बई में काम करना मुनासिब नहीं समझा। उनका मानना है इस नगर को उनकी जरूरत है। वे सौन्दर्य की दुनिया में बदलाव लाना चाहते हैं ...।” मृदुल ने लोकल चैनल से आग्रह कर शुक्रवार की शाम को प्रसारित होने वाले स्थानीय कार्यक्रम घर-आँगन में अपनी भेंट वार्ता का प्रसारण कराया। मुम्बई प्रवास के अनुभव बताते हुये उसने अंग्रेजी का प्रचुर प्रयोग किया कि लोग विश्वास कर लें उसने मुम्बई में बालीवुड सितारों का मेक अप किया है। कार्यक्रम में एंकर द्वारा पूछे गये प्रश्न, जो मृदुल ने स्वयं तैयार किये थे, के उत्तर में मृदुल ने काफी कुछ बताया- खूबसूरत चेहरा ही नहीं, बोल-चाल, बॉडी लेंग्वेज, एक्सटरनल एपीयरेंस हमारे व्यक्तित्व को निखारते हैं। हमारे पास बड़ी डिग्री है पर हम उसे साथ लिये नहीं घूमते हैं। तौर-तरीके से प्रदर्शित होना चाहिये हम शिक्षित और शिष्ट हैं।... मन की सुंदरता, प्रधान सुंदरता है। यह हमारे चेहरे में दिखनी चाहिये.... मेरे गुरु हमेशा कहते हैं सुंदर दिखें ही नहीं, खुद को सुंदर महसूस करें। कभी न सोचें हम परफेक्ट नहीं हैं। कोई भी परफेक्ट नहीं होता। किसी का चेहरा सुंदर नहीं है, किसी का फिगर। किसी का कद अच्छा नहीं है, किसी का काम्प्लैक्शन। परफेक्ट चेहरा और बॉडी बहुत कम लोगों की होती है। हमारी दिक्कत यह है हम इम्परफैक्शन के साथ नहीं रहना चाहते भले ही उस इम्परफैक्शन से हमें बाधा न आ रही हो।...

देखिये, छोटे-मोटे दोष सभी में होते हैं जिन्हें मेक अप, ट्रीटमेंट से दबाया या हटाया जा सकता है

अखबार में छपी खबर और भेंटवार्ता ने खलबली मचा दी। कुमारियाँ, मृदुल की कायल हो गईं। बहुतों को लगा उनके चेहरे और बॉडी में कुछ डिफेक्ट है। रूप निखारने में कुछ समय लगाना चाहिए। बहुतों ने मृदुल

को करीना कपूर और अन्य फिल्मी सितारों से जोड़ कर देखा कि उसमें वस्तुतः प्रतिभा है। काम न जमेगा तो गुरु के पास मुम्बई चला जायेगा। प्रतिभा पलायन इसी तरह होता है। बहुतों ने मजाक उड़ाया- मृदुल, करीना कपूर का नहीं, एक्स्ट्रा का मेक अप करता रहा होगा। एक्स्ट्रा का रोल कर रहे टोकरा भर लड़के-लड़कियों को कोई तो सजाता ही होगा। जबकि कुछ कुमारियाँ, जो इस कस्बेनुमा शहर के विकास क्रम में स्वयं को आधुनिक मानती थीं को लगा मृदुल अपने साथ ब्यूटी टिप्स ही नहीं महानगर की मस्त हवा भी लाया है। ये आधुनिकायें काया कल्प गईं और जबरदस्त वैचारिक आँधी लिये लौटीं “कोई लड़का, किसी लड़की की त्वचा को छू दे यह लड़की के चरित्र हनन और लड़के की चरित्रहीनता जैसा मामला नहीं है। मृदुल अत्यन्त शिष्ट और शालीन है सच कहें तो जो सैटिसफैक्शन मृदुल अपने काम और व्यवहार से देता है, वह आधा-अधूरा सीख कर पार्लर चलाने बैठें यहाँ की लेडी ब्यूटीशियन नहीं दे सकतीं...।”

मृदुल हीरा बन कर चमका।

काम को विस्तार मिलने लगा।

आज वह शहर का सबसे महँगा ब्यूटीशियन है। अप्वाइन्टमेन्ट लेना पड़ता है। हेयर कट, हेयर स्टाइल, करेक्टिव फेशियल, प्रिजरवेटिव फेशियल और मेंहदी लगाने का काम स्पीड और समय का अच्छा संतुलन बनाते हुये वह स्वयं करता है। क्लाइंट कहते हैं काया कल्प में कई सहायिकायें हैं लेकिन मृदुल जैसा केशविन्यास और मेंहदी नहीं बना-लगा पाती। मृदुल ब्राइडल मेक अप के लिये दुल्हनों के घर कभी नहीं जाता। दुल्हनें पार्लर आती हैं अथवा अतिरिक्त शुल्क लेकर सहायिकाओं को उनके घर भेजता है। काया कल्प में तैयार होने आई दुल्हनों को सहायिकाएँ तैयार करती हैं। अंत में फिनिशिंग टच देते हुये वह चेहरे पर बहुत नरमाई से ऐसा करिश्मा कर देता है कि दुल्हन का चेहरा यूँ लगने लगता है मानो त्वचा प्राकृतिक रूप से ऐसी चमकदार है। दर्पण में रूप निहार रही दुल्हन से कहता है -

“यू आर लुकिंग परफैक्ट नव वधू। तेरी सास-ननद जलेंगी कि दुल्हनिया कितना चमक रही है।”

मृदुल की क्रेडिबिलिटी को देखते हुये लड़कियाँ इतनी सहज हो चली हैं कि उसकी खुली बातों का बिल्कुल बुरा नहीं मानतीं। उन्हें नहीं लगता मृदुल की उपस्थिति दरअसल एक युवक की उपस्थिति है। उसे बहुत समीप पाकर भी इश्क, रोमांस, आकर्षण जैसे भावों का बोध कभी नहीं होता। न ही असुरक्षा या असुविधा जान पड़ती है। जानती हैं क्रेडिबिलिटी को लेकर मृदुल कितना सावधान है।

क्रेडिबिलिटी को लेकर मृदुल सचमुच सावधान रहता है। उसने कितनी दुल्हनों को सजाया है, कितने बैच कोर्स करने आये और गये, नियमित आने वाली लड़कियों-महिलाओं की अच्छी संख्या है लेकिन मृदुल को कभी नहीं लगा किसी एक को अपने लिये चुने। जबकि काया कल्प में आती-जाती लड़कियों को देखकर माँ अभिलाषा करती है-

“मृदुल इतनी लड़कियाँ आती हैं। किसी को पसंद कर लो।”

“माँ, मेरी क्रेडिबिलिटी का ख्याल करो। काया कल्प मेरी सलतनत है। खूबसूरत और खुशबूदार माहौल मेरी दुनिया है। अभी तो इतनी ही। मैं खुश हूँ।”

माँ की अभिलाषा को यूँ प्रतिबंधित करते हुए मृदुल को कल्पना नहीं थी ब्यूटीशियन का कोर्स करने आई गोपी को देखकर उसके भीतर कुछ सूत्रपात होगा। काया कल्प में बसंत दस्तक देगा। मृदुल इन दिनों एक असाधारण एहसास में है। गोपी से हुई पहली मुलाकात में वह पूरी तरह व्यवसायी था। गोपी से कोर्स की पूरी फीस अग्रिम ले ली थी। पहले कुछ प्रतिशत अग्रिम, शेष कोर्स पूरा होने पर लेता था लेकिन कुछ दगाबाज लड़कियों ने काम चलाऊ प्रशिक्षण लेकर आना छोड़ दिया कि शेष फीस न देनी पड़े। घाटे से बचने के लिये मृदुल अब पूरी फीस अग्रिम लेता है। अग्रिम फीस वसूल कर उसने गोपी से काया कल्प में आने का उद्देश्य पूछा था-

“कोर्स क्यों करना चाहती है?”

“पढ़ाई में खास दिल नहीं लगा। बड़ी मुश्किल से ग्रेजुएट कर पाई।”

“यहाँ वही आते हैं जिनका पढ़ाई में खास दिल नहीं लगता।”

“आपका बड़ा नाम सुना है।”

“ठीक सुना है। यू आर एक्स्ट्रा आर्डिनरी सुंदर। मेरे काम आयेगी।”

“मीन?”

“मैं तुझे अपना शागिर्द स्वीकार कर रहा हूँ। नोट्स ले लेना और जीराक्स करवा कर ईमानदारी से लौटा देना।”

“सर, एक बात पूछना चाहती

“कन्ट्रोल योर हसरत। आज ही सब पूछ लेगी?”

गोपी को सौन्दर्य की दुनिया आकर्षक लगने लगी। ध्यानपूर्वक नोट्स पढ़ती। ट्रीटमेंट दे रही सहायिकाओं के हाथों की गति, मूवमेन्ट्स स्ट्रोक को बारीकी से देखती। काया कल्प की पहली सहायिका होने के कारण चंचल खुद को गुणी मानती है। गोपी को अधीनस्थ मानते हुये उससे सामग्री उठाने-रखने जैसा काम लेती। आखिर गोपी ने आग्रह किया-

“इनका फेशियल मैं करूँ?”

श्रीमती परिहार का फेशियल कर रही चंचल ने गोपी को उपेक्षित किया “नहीं। ये हमारी रेग्यूलर क्लाइंट हैं। तुम गलती करोगी।”

“काम कैसे सीखूँ?”

“सर कहते हैं हाथ पकड़ कर काम नहीं सिखाया जाता। देखो और सीखो।”

एक महिला के चेहरे पर ओजोन ट्रीटमेंट दे रहे मृदुल ने पीछे मुड़ कर देखा -

“चंचल, हारमनी बनाये रख। एण्ड गोपी व्हाय आर यू इन जल्दी? आज मैं तेरा फेशियल करूँगा। तुझे समझने में आसानी होगी।”

“मीन?”

“बिहैव लाइक अ अच्छी बच्ची।”

गोपी का फेशियल बला की गुदगुदी से भरा हुआ असाधारण अहसास। मृदुल के लिये स्त्री स्पर्श विशेष बात न थी लेकिन गोपी के स्पर्श और समीपता से उसे अपने भीतर कुछ सूत्रपात होता-सा लगा। मृदुल के व्यवहार से चंचल को अपनी पदवी कम होती जान पड़ी। मृदुल ने शागिर्दी को ऐसी रुचि से काम नहीं सिखाया। स्वतः कह बैठी- “सर, आप गोपी पर मेहरबान हो रहे हैं।”

“चंचल, डॉट ब्रेक माय लयबद्धता।... गोपी पहला सबक। अपने काम को पूरा वक्त दो। लोगों का भरोसा बढ़ता है। क्लाइंट हमारे काम से खुश हो, हमें इसका ध्यान रखना चाहिये।”

“जी ...”

“चुप। फेशियल कराते हुये बोला न कर।”

और जब गोपी ने दर्पण में अपना रूप निहारा, लगा इतनी खूबसूरत पहले नहीं थी। ठीक पीछे खड़ा था मृदुल- “लुकिंग गार्जियस।”

“सर, आपके हाथ में जादू है।”

“तुझे पर चला ?”

“चल गया सर, चल गया। काम सीखने का मुझे नशा हो गया है।”

“यह होती है स्पिरिट।”

“जब अपना पार्लर खोलूँगी, इनाग्रेशन आप करेंगे।”

“तेरा पहला क्लाइंट मैं बनूँगा।” कहते हुये मृदुल को साफ तौर पर लगा क्रेडिबिलिटी अपनी जगह है लेकिन उसके भीतर प्रेम बेलि बोई जा चुकी है। गोपी नाम की इस गार्जियस लुकिंग लड़की ने वह कर डाला है जो काया कल्प में अब तक न हुआ था।

मृदुल पूरी तरह सुरूर में।

“गोपी, मैं कल तेरे बालों में मेंहदी लगाऊँगा।”

“नो सर।”

“इट्स माय फरमान। समर कोर्स वाले बैच को कल हिना लगाना सिखाना है। और तू अपना हेयर स्टाइल थोड़ा बदल। चेहरे को सूट करता हेयर स्टाइल खूबसूरती बढ़ा देता है। इंडियन आइडल रियलिटी शो देखती है ?

सिंगर्स सिम्पल सूरत लेकर आते हैं। फिर मेकअप मैं उन्हें कितना स्टाइलिश बना देते हैं।”

“हाँ, सर।”

मृदुल, हाँ सर कहती गोपी को देखता रह जाता। इच्छा होती चुटकी बजा कर तखलिया कहे और निर्जन पार्लर में गोपी के बालों में मेंहदी थोपें और चेहरे की मसाज करें। गजब यहाँ तक पहुँचा कि गोपी एबसेंट है लेकिन मृदुल पुकार रहा है “गोपी, इधर आ। मैसेज शाह के लिये फेस पैक तैयार कर।”

चंचल ने सबको सुना कर कुछ ईर्ष्या, कुछ कटाक्ष से इस तरह कहा मानो मृदुल की मंशा ताड़ ली है -

“सर, गोपी आज नहीं आई।”

गोपी के एहसास में लिप्त मृदुल अचकचा गया “ओ गॉड। चंचल, तुझे बुला रहा हूँ। इधर आ।”

मृदुल दीवाना हो रहा था लेकिन गोपी इसे मेहरबानी से अधिक अर्थ नहीं दे रही थी क्योंकि सहायिकाओं का एक जैसा मत है - मृदुल सर के साथ काम करते हुये लगता ही नहीं एक लड़के के साथ काम कर रहे हैं। सर की नजर इतनी साफ है और क्रेडिबिलिटी को लेकर इतना सोचते हैं कि लड़कियों के बारे में सोचते ही नहीं। उनमें संवेदना है, शालीनता है। सलीका तो इतना है कि हम लोग कभी जोर से हँस दें तो टोक देते हैं जोर से हँसना या बोलना कास्मोपोलिटिन मैनरिज्म के खिलाफ है। आवाज स्पष्ट हो लेकिन धीमी और संतुलित हो। अरे, वे लड़कियों के साथ रहकर लड़की की तरह व्यवहार करने लगे हैं। उनकी खुली बातों का हम लोग बिल्कुल बुरा नहीं मानते। गोपी को काया कल्प में काम करते हुये कुछ वक्त हो गया है। उसे सहायिकाओं की धारणा सही लगती है। मृदुल उसकी ब्यूटी की सराहना अक्सर करता है लेकिन इतने साफ दिल से करता है कि अच्छा लगता है। उसका मेहरबान होना अच्छा लग रहा है। मौके का फायदा उठा कर मृदुल से वह सब सीख लेना चाहती है जो वह किसी को नहीं सिखाता। सहायिकायें ठीक वक्त पर घर चली जाती हैं, गोपी रुकी रहती है। चंचल दोनों के व्यवहार को

जाँच परख रही है- मृदुल सर वह नहीं रहे जो अब तक थे। और यह गोपी, सर के पास इस तरह घुसी रहती है मानो काया कल्प को हड़प कर दम लेगी।

अन्य सहायिकाओं से मशवरा कर चंचल ने गोपी की क्लास ली-

“गोपी, तुम एबसेंट रहती हो लेकिन सर पुकारते रहते हैं गोपी...गोपी...गोपी...”

गोपी सहज थी “सर को कुछ भी ध्यान नहीं रहता।”

“तुम्हारे नाम की माला जपने लगे हैं।”

“चंचल, तुम क्या सोचती हो?”

“क्योंकि तुम देर से घर जाती हो। सर के पास घुसी रहती हो।”

“मैं काम सीखना चाहती हूँ। रोज रिक्वेस्ट करती हूँ, करेक्टिव फेशियल, प्रिजरवेटिव फेशियल सिखा दें।”

“सिखाया?”

“कहते हैं हलफनामा ले आ, काया कल्प को छोड़ कर नहीं जायेगी। सिखा दूँगा।”

“हिंट को समझ कर सर से शादी कर लो। बैठे बैठे इतने बड़े पार्लर की मालकिन बन जाओगी।”

“कुछ मत सोचो। मेरी और सर की परसनालिटी बहुत अलग है। चंचल, तुम मुझे डरा रही हो। मैं यहाँ देर शाम तक नहीं रुकूँगी।”

“अगले महीने से शादियाँ शुरू हो रही हैं। अब तो हम सबको देर रात तक रुकना पड़ेगा।”

वेडिंग सीजन।

काया कल्प पूरी तरह व्यस्त है।

आज छः दुल्हनों का ब्राइडल मेकअप होना है। तीन को तैयार करने सहायिकायें उनके घर गई हैं। तीन काया कल्प में तैयार हो रही हैं। मृदुल, गोपी को अपने साथ लगाये रहता है-

“गोपी, घर कॉल कर दे, देर होगी। मैं तुझे घर छोड़ दूँगा।”

गोपी की इच्छा हुई कहे- सर, आप वह नहीं हैं जो क्रेडिबिलिटी के लिये जाने जाते हैं। मैं देर रात तक नहीं रुकना चाहती। लेकिन किस आधार पर कहे? मृदुल ने

ऐसा मकसद जाहिर नहीं किया है जो अवांछित लगे। कह सकते हैं आज तक मुझ पर आरोप नहीं लगा लेकिन तू लगा रही है। बहुत सम्भव है तथ्य कुछ न हो और यह सारा तात्पर्य चंचल का बनाया हुआ हो। चंचल नहीं चाहती काया कल्प में उसके अतिरिक्त किसी को महत्व मिले। ...मृदुल उत्साह से दुल्हनों को सजाता रहा। दिमाग में मतभेद भरे हुये गोपी सहयोग करती रही। अंतिम दुल्हन के तैयार हो जाने पर मृदुल ने हमेशा की तरह कहा “लो, आज की आखिरी दुल्हन भी जयमाल के लिये तैयार है।”

दुल्हनें अपनी खनक-झनक समेट कर चली गईं।

अब काया कल्प शांत था।

मृदुल ने गोपी पर परिपूर्ण नजर डाली “गोपी, नीचे चल। माँ कॉफी बना देगी। फिर तुझे घर छोड़ दूँ।”

गोपी ने मृदुल को देखा। राग-द्वेष से परे निर्मल मुख है।

बदमाशी का भाव बिल्कुल नहीं है।

“हाँ, सर थकान हो गई है। कॉफी पीकर अच्छा लगेगा।”

गोपी नहीं जानती थी मृदुल, माँ की गवाही में अपने प्रेम को अभिव्यक्ति देगा। कॉफी पीते हुए उसने स्पष्ट अनुभव किया मृदुल ही नहीं उसकी माँ भी उसे ललक कर देख रही है। माँ ने जिस सहजता से बात की, साबित होता था मृदुल उन्हें कुछ संकेत दे चुका है-

“गोपी, मृदुल तुम्हारी बहुत सराहना करता है। मृदुल, तुम्हारी पसंद अच्छी है।”

इस व्यवहार के लिये गोपी कतई तैयार नहीं थी। जी चाहा उसे और मृदुल को बारी-बारी से देख रही मुग्ध माँ से कहें- मृदुल सर कॉम्प्लीकेटेड हो रहे हैं। मैंने ध्यान नहीं दिया और ठीक अभी पता चल रहा है सर बहुत आगे बढ़ आये हैं। सर अच्छे ब्यूटीशियन हैं, नम्र हैं, भले हैं। इनके साथ काम करना अच्छा लगता है, जीवन बिताना अच्छा नहीं लगेगा। लड़कियाँ पति में कुछ मर्दों वाली बात चाहती हैं, जो आपके बेटे में नहीं है। लोगों को क्या बताऊँगी? मेरा पति सामान्य कद-काठी वाला कोमल

जीव है। मालिश करता है, बाल कतरता है, लड़कियों द्वारा बताये जा रहे सास-ननद के प्रपंच रुचि से सुनता है...। पर क्या कहें? कैसे कहें? माँ के चेहरे में हसरत है। मृदुल के चेहरे में आमतौर वाली शालीनता है। गोपी को ख्याल नहीं कॉफी खत्म हो चुकी है। वह खाली प्याली पकड़े हुये गुम-सी बैठी है। मृदुल ने महीन कहकहा लगाया “चल, घर छोड़ दूँ कि आज यहीं बसेगी?”

गोपी, मृदुल के साथ बाइक पर पहले भी बैठी है। आज चौकस होकर बैठी। मृदुल ने उसे पहले भी बैठाया है। आज सम्भाल कर बैठाया। दो किलो मीटर की यह दूरी दोनों ने पहले भी तय की है। आज खामोशी में तय की। गली के अंतिम छोर पर गोपी का घर। मुख्य पथ के किनारे, गली के मुहाने पर मृदुल ने बाइक रोक ली। गोपी को ड्राप कर मृदुल लौट पड़ता था। आज रुका रहा। हेड लाइट ऑफ कर दी। मानो अभिव्यक्ति के लिये अँधेरे का सहारा लेना चाहता है-

“गोपी, तू शादी कब कर रही है?”

“मीन?”

“किससे करना चाहती है? टेल मी योर तमन्ना।”

“अभी तो कुछ नहीं है सर।”

“चाह ले तो कुछ हो सकता है। तू तो जानती है लड़कियों के बीच में ब्रह्मचारी की तरह रहता हूँ पर अब लगता है मुझे शादी कर लेनी चाहिये।”

अँधेरे में प्रणय निवेदन करता शालीन प्रणयी और रोने की स्थिति में गोपी -

“कोई मिली सर?”

“तू।”

सरल-सा प्रस्ताव गोपी के लिये कितना बड़ा धर्म संकट।

“सर, मैंने इस तरह नहीं सोचा।”

“किस तरह सोचा है?”

“मैं आपको दुःखी नहीं करना चाहती पर ...सॉरी सर जब भी अपना पार्लर शुरू करूँगी, इनाग्यूरेशन आप करेंगे।”

दिल टूटा है। सम्भलने में वक्त लगेगा। फिर भी क्रेडिबिलिटी जैसे शब्द ने मृदुल को एक हद तक चैतन्य किये रखा -

“तेरा पहला क्लाइंट मैं बनूँगा।”

“थैंक यू। आप अच्छे इंसान हैं।”

“तेरी जब भी शादी होगी, ब्राइडल मेक अप मैं करूँगा। भारी डिस्काउंट के साथ।अच्छा तुझे कल भी देर होगी। आठ दुल्हनों को तैयार करना हैऔर हाँ, तू तो जानती है, लड़कियों के बीच समय गुजारते हुये मैंने कुछ भी कह देने की बम्पर छूट ले रखी है। बात को दिल से न लगाना... मेरा एक ही मिशन है- काया कल्प।”

बाइक स्टार्ट कर मृदुल चला गया। गोपी उसकी पीठ देखती रही। चेहरा देख पाती तो जान लेती वह दारुण दर्द था।

संपर्क: द्वारा श्री एम. के. मिश्र

जीवन विहार अपार्टमेंट, फ्लैट नं. ७, द्वितीय तल, माहेश्वरी स्वीट्स के पीछे

रीवा रोड, सतना (म.प्र.)-४८५००१, मोबाइल : ०८२६९८९५९५०

अब मेरी बारी है

डॉ. कविता विकास

घर को दुल्हन की तरह सजाया गया था। फूलों की लड़ियाँ और दरवाजों पर वंदनवार काफी खूबसूरत लग रहे थे। चारों ओर रौनक ही रौनक। रिश्तेदारों के आ जाने के बाद घर में हंसी-ठिठोली का जो दौर शुरू हुआ उसमें पिताजी को शरीक देख बड़ा अच्छा लगा। तीन-चार वर्षों से मेरे लिए उपयुक्त वर की तलाश में पिताजी बड़े परेशान रहते थे। कहीं मेरे साँवले होने के कारण बात नहीं बनती तो कहीं दहेज की अत्यधिक माँग के कारण। इन सब के बीच उनके चेहरे की हंसी लगभग गायब हो गई थी। माँ भी कभी-कभार ताना देती, “टूँठ-सी बड़ी होती जा रही है, जाने क्या भाग्य लिखा कर लाई है।” मैं चुपचाप अपने काम में लगी रहती, सुन कर भी अनसुना कर देती क्योंकि मुझे पता था कि पिताजी की व्यथा से माँ दुखी हो जाती है, वरना वह आरम्भ से ही हम तीनों बहनों के लिए सबसे मजबूत आधार रही है। हमें पढ़ाने-लिखाने के पीछे माँ का ही निर्णय सर्वोपरि रहा है।

खैर, वह दिन भी आ गया जब पिताजी ने गोरखपुर से लौट कर यह खुशखबरी दी कि मेरी शादी पक्की हो गयी, वह भी बिन दहेज के।” एक पैसा भी नहीं माँगा उन्होंने, कह रहे थे कि लड़की है, कोई वस्तु थोड़ी न, जो सौदा करना पड़े,” पिताजी ने खुशी से कहा। दोनों छोटी बहनें वहीं थीं, दौड़ कर उन्होंने यह सूचना मुझे दी। हालांकि माँ ने धीमे से बात उठाई, “ऐसे कैसे तय कर लिया उन्होंने? न लड़की देखी और न कोई दान-दहेज? लड़का ठीक-ठाक है न!” पिताजी लगभग बरसते हुए बोले, “तुम तो हर समय बात का बतंगड़ बना देती हो, दुनिया में क्या भले लोग नहीं होते? लड़का लेफ्टिनेंट है सेना में। ओहदे में बड़े लोग दिल के भी बड़े होते हैं। ईश्वर की कृपा समझो कि अब नन्हीं और गुड्डो का भी अच्छी जगह रिश्ता हो जायेगा।” माँ चुप हो गयीं। धीरे-धीरे विवाह की तैयारियाँ शुरू हो गयीं। रिश्तेदारों के यहां निमंत्रण, बर्तन-कपड़ों की खरीदारी आदि। बीच-बीच में सुखदेव अंकल जिन्होंने इस विवाह के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभाई थी, आते थे। मुझे समझ में नहीं आता कि उनके आने से माँ-पिताजी हम तीनों को बाहर क्यों भेज देते। कभी खरीदारी करने, कभी कहीं और। एक दिन अपने शोध-कार्य के सिलसिले में मैं सुबह ही बाहर निकल गयी। शाम तक लौटने की बात थी लेकिन काम खत्म हो जाने पर दोपहर में ही लौट आयी। बाहर का दरवाजा भिड़का हुआ था, इसलिए कॉल बेल बजाने की ज़रूरत नहीं थी। पिताजी के कमरे के बाहर से जाते हुए मैं ठिठक गयी। खिड़की से देखा, पिताजी बहुत सारे नोटों की गड्डियाँ एक संदूक में सजा रहे हैं। उनकी बात-चीत से जो निष्कर्ष निकला उससे कुछ आशंका हुई।” अरे, लड़की तो पराया धन है। इतने दिनों तक पाल-पोष कर अपनी जिम्मेवारी निभा दी। अब जहाँ जायेगी अपने भाग्य से चाहे घर बसाएगी, चाहे जैसे रहे। हमें और दोनों बेटियों के भी हाथ पीले करने हैं।”

माँ जो हमेशा अपनी बेटियों के लिए सुरक्षा कवच बन कर खड़ी रहती थी, आज चुपचाप उनकी हाँ में हाँ मिला रही थीं। श्वेता का मन भर आया। अपने कमरे में जाकर तकिये में मुँह छिपा कर देर तक रोती रही। “क्या लड़की माता-पिता की कम सेवा करती हैं? आज तक जिस घर-आँगन में वह साधिकार घूमती-फिरती है, क्या कल उस पर कोई अधिकार नहीं?” इन्हीं विचारों में मग्न थी कि माँ ने उसके कमरे का दरवाजा खुला देख वहीं से आवाज़ लगाई, “श्वेता, आ गयी क्या?” मैंने बाथरूम में घुसते हुए कहा, “हाँ, अभी तुरंत आयी, फ्रेश हो कर आ रही हूँ।” मैंने इस बात का जिक्र करना मुनासिब नहीं समझा कि आखिर वो पैसे कहाँ से आये और किसने दिए? असमंजस की स्थिति कई दिनों तक बनी रही, फिर जब मेहमानों का आना आरम्भ हुआ

तब यह बात धुंधली होती चली गयी। हँसी-खुशी का माहौल बना रहा। रस्मों-रिवाज के बीच विक्रांत और उसे लेकर खूब चुहलबाज़ियाँ होतीं। सभी उसके सुखद भविष्य की कामना करते। एक-दो बार छोटी बुआ ने उन दोनों के बीच के उम्र के फासले पर कटाक्ष किया जो माँ को अच्छा नहीं लगा पर बड़ी सफाई से माँ ने उनके पद की गरिमा का हवाला देते हुए बात रफा-दफा कर दिया।

बारात और शादी की तारीख आते हुए देर न लगी। माँ ने तैयारी में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। अपने पसंद की कीमती साड़ी, पार्लर से आकर सजाने के लिए ब्यूटिशियन और खाने-पीने के मेनू सभी में उसकी राय ली जा रही थी। गहने-जेवर भी खूब मिल रहे थे। श्वेता को यकीन नहीं हो रहा था कि सरकारी दफ्तर का एक मामूली और ईमानदार क्लर्क जो कुछ समय पहले तक तीन-तीन बेटियों के हाथ पीले करने की चिंता में लिप्त रहता था, अचानक दिल खोल कर कैसे इतना सब कुछ कर पा रहा है? शायद बिन दहेज का विवाह ऐसा ही होता है।

नियत तिथि पर विवाह और फिर विदाई भी हो गयी। माँ ने विदाई से पहले गुरु मंत्र दिया, “बेटी अब ससुराल ही तुम्हारा घर है। वहाँ के परिवेश में अपने को अच्छी तरह ढालना। कोई तुम पर अंगुली न उठा सके।” मैंने भी माँ से लिपटते हुए कहा, “आपकी बेटी हूँ माँ, कहीं से आप की इज्जत पर कोई आँच नहीं आने दूँगी।” तब क्या पता था कि माँ के इस सलाह में उनकी वेदना और मज़बूरी छिपी हुई थी।

सात-आठ घंटे के सफर के बाद हम भदोई पहुँच गए जहाँ मेरा ससुराल था। घर क्या, भव्य महल था। सासु माँ के साथ दो-चार औरतों ने मेरी आरती उतारी। परिचय भी कराया गया कि कौन चाची सास है और कौन बुआ जी। घर बहुत अच्छी तरह सजाया गया था, पर रौनक में थोड़ी कमी दिखी। मेरे खाने-पीने का विशेष ध्यान रखा जा रहा था। सासू माँ बार-बार निर्देश दे रहीं थीं कि बहू को सफर की थकान होगी, इसलिए जल्द ही उसे कमरे में पहुँचा दो, आराम कर लेगी। फ़ेश होने और डिनर के बाद नौ बजे तक मुझे अपने कमरे में पहुँचा दिया गया। इस बीच मुझे

विक्रांत कहीं नज़र नहीं आये। मैंने सोचा, शायद वो अपने मित्रों के साथ व्यस्त हैं। अब नयी दुल्हन उनके बारे में किससे पूछे, सो चुप लगा गयी। मोगरे की लड़ियों से पलंग को खूबसूरत तरीके से सजाया गया था। विक्रांत रात को कब आये मुझे पता नहीं, क्योंकि ग्यारह बजे तक तो मैं जागी हुई थी। थकावट के मारे कब लुढ़क गयी, पता नहीं चला। इस बीच घर का कोई सदस्य भी कमरे में नहीं आया।

सुबह के आठ बजे मैं नहा-धो कर सुर्ख लाल साड़ी में, माथे में घूँघट लिए नीचे के कक्ष में पहुँची। मेरी सासु माँ चाय पी रहीं थीं। मुझे देखते ही सासु माँ ने कहा, “अपने कमरे में रहो, चाय-नाश्ता वहीं पहुँच जाएगा।” अपने कमरे में लौटते वक़्त मुझे आश्चर्य लग रहा था कि एक नयी बहू से जो अपेक्षाएँ की जाती हैं, वह यहाँ कुछ भी नहीं है। पतिदेव को तो विदाई के बाद से मैंने देखा भी नहीं। आखिर माज़रा क्या है? अपने कमरे की खिड़की से देखा नीचे रिसेप्शन की तैयारी में पंडाल बन रहे थे। अचानक कमरे का दरवाज़ा खुला। विक्रांत अंदर आये। उनके आते ही मैंने रात को जल्दी सो जाने के लिए माफ़ी मांगी। उन्होंने कहा, “अरे, दोस्तों के साथ बाहर निकल गया था। आने में देर हो गयी, फिर तुम्हें इत्मीनान से सोता देख, जगाना मुनासिब नहीं समझा।” मन तो हो रहा था कि कहूँ, आप जगा देते तो मुझे अच्छा लगता,” पर मैंने चुपचाप उनकी बात सुनी।

रिसेप्शन की पार्टी में ज्यादातर आस-पड़ोस वाले ही थे। सासु माँ सबके साथ मेरा परिचय करा रहीं थीं। “बहुत गुणी लड़की है, अभी-अभी अपना शोध पूरा किया है। स्थानीय कॉलेज में ही जगह मिल जाने की संभावना है, आदि-आदि।” मोहल्ले की एक चाची ने टोका, “खाना-वाना बनाना जानती है या पढ़ने में ही समय निकल गया?” अरे, वह तो सवेरे से ही रसोई में हाथ बँटाना चाह रही थी, मैंने जबरन मना किया,” सासु माँ ने कहा। भीड़-भाड़ से नज़रें बचा कर जब भी विक्रांत को देखती, वो अपने मोबाइल पर व्यस्त दीखते। मुझसे बात करने में कोई रूचि नहीं। वस्तुतः किसी ने अभी तक अपनापन-सा कोई व्यवहार नहीं किया था। मुझे माँ से

बात करने का मन होने लगा। मैंने इनसे कहा, “ज़रा, माँ से बात करवा दीजिये, वहाँ से पापा को आना चाहिए था, जाने क्यों न आये?” इन्होंने माँ का नंबर मिला कर मुझे मोबाइल पकड़ा दिया। माँ ने जैसे ही फ़ोन उठाया, मैंने पूछा, “आप लोग रिसेप्शन में नहीं आये?” माँ ने कहा, “रिश्तेदारों को विदा करना था और तू तो जानती है कि मेरे और पापा के अलावा कोई करने वाला नहीं है, इसलिए हमने समझिन जी से पहले ही कह दिया था कि पार्टी में जाना सम्भव नहीं है।” तू ठीक है न?” मैंने “आ ... हाँ, ना जैसी लड़खड़ाती आवाज़ में कहा, “अभी तक तो किसी से ठीक से बात भी नहीं हुई है।” माँ ने बड़े शांत भाव से जैसे आग्रह कर रहीं हों, कहा, “किसी तरह एडजस्ट कर लेना, बेटी। हमें तो नहीं और गुड्डो की भी शादी करनी है। तुम्हें अच्छा घर मिल जाने पर इनके लिए भी रास्ता आसान हो जायेगा। तुम तो खुद समझदार हो, सब संभाल लेना।” माँ का यह उपदेश मुझे कुछ परेशान करने लगा। रिसेप्शन के बाद मैं अपने कमरे में आ गयी। वह रात भी इनके इंतज़ार में गुज़र गयी।

एक हफ्ते का समय निकल गया। इस बीच मैंने विक्रांत को घर में कभी-कभार ही पाया। मेरे पास आने का तो सवाल ही नहीं, मुझसे बात तक करने की ज़रूरत नहीं समझते। लगता था जैसे किसी को मेरी ज़रूरत नहीं थी, मैं एक डमी-सी थी। समय पर चाय-नाश्ता, खाना-पीना मिल जाता। मेरे लिए कई नौकर थे, मुझे कुछ करते देख सासु माँ तुरंत नौकरों को डाँट लगातीं। एक दिन सब्र का बाँध टूट गया। दस दिन बीतने को आये। रात को करीब दस बजे मैंने सासु माँ के कमरे का दरवाज़ा खटखटाया, लगता था जैसे वह मेरे प्रश्नों का इंतज़ार कर रहीं थीं। मैंने आक्रोश से पूछा, “क्या आप लोग मुझसे खुश नहीं हैं? आपके राजी होने पर ही पिताजी ने बात आगे बढ़ाई होगी। फिर यह रूखापन क्यों? विक्रांत मेरे साथ क्यों नहीं रहते?” सासु माँ ने व्यंग्यात्मक लहजे में कहा, “तो माँ-बाप ने असलियत छुपा ली? तुम्हें कुछ न बताया?” “क्या असलियत?”

“यही कि मेरे बेटे ने अपने दादा की बात रखने के लिए तुमसे विवाह किया है। तुम्हें यहां अपार धन-दौलत मिलेंगे, कोई कमी नहीं होगी, बस केवल विक्रांत से दूर रहना होगा।” मैं सकती में आ गयी, “आखिर क्यों?” इंतज़ार करो, इसका भी जवाब मिल जाएगा,” कहते हुए सासू माँ उठ कर जाने लगीं। मैंने उनके पैर पकड़ लिए, पर वह करीबन धक्का देते हुए निकल गयीं। मैंने अपने कमरे में पहुँच कर विक्रांत को फ़ोन लगाया। लगता था, आज ही फैसला हो जाए, इतने दिनों का नाटक अब खत्म हो जाए। फ़ोन किसी महिला ने उठाया, “अच्छा तो मन नहीं लग रहा क्या? विक्रांत से तुम बात नहीं कर सकती, वह अभी-अभी सोये हैं।” “वह सो रहे हैं, और मैं उनके इंतज़ार में पंद्रह दिन से जाग-जाग कर रात बिता रही हूँ... कौन हैं आप? उधर से एक खनकती हुई आवाज़ आयी, “मैं मोना हूँ, विक्रांत की पत्नी।” कह कर फ़ोन काट दिया गया। गुस्से और अपमान में पैर पटकती हुई मैं सासु माँ के कमरे में गयी, लेकिन रास्ते में महरी ने रोकते हुए कहा कि वह आराम कर रहीं हैं और किसी को उनसे मिलने की इज़ाज़त नहीं है। ऊहापोह की स्थिति में मैंने पिताजी से भी बात करना चाहा, लेकिन पहले मैं विक्रांत से सारा माज़रा समझना चाहती थी। थोड़ी देर बाद विक्रांत मेरे कमरे में आये। उन्हें देखते ही मैं गुस्से से कांपने लगी। चिल्लाते हुए मैंने पूछा, “क्यों किया ऐसा धोखा मेरे साथ? मेरी ज़िन्दगी बर्बाद कर दी। आपके इस छल में आपका पूरा परिवार शामिल है।” कर्नल के चेहरे पर कोई शिकन नहीं थी। उस ने बड़ी शांत मुद्रा में कहा, “अपने पापा से पूछो, उन्हें सब पता है।” उन्होंने नंबर मिलाते हुए मुझे फ़ोन पकड़ा दिया। मैंने रोते हुए पूछा, “पापा ये क्या कह रहे हैं... क्यों मेरे साथ खिलवाड़ किया?” पापा की आवाज़ मानो अपराध भाव से थरा रही थी। बहुत सँभलते हुए उन्होंने कहा, “देखो बेटा, ये लोग सारी सुविधा तुम्हें दे रहे हैं। तुम्हारी शादी की बात कहीं नहीं बन रही थी। तुम्हारे साथ-साथ तुम्हारी बहनों की भी उम्र निकली जा रही थी। जब तक तुम यहां रहती,

इन दोनों को कैसे निबटाता मैं ?” निबटाता ? यानी हम सब बोझ हैं, पापा ? इतने दिनों का साथ, प्यार-मनुहार सब झूठा था ?” ऐसी शादी से तो अच्छा था, आप मुझे घर छोड़ कर कहीं और चले जाने कह देते। कम-से-कम अकेली ज़िन्दगी इससे बेहतर होती।” “नहीं बेटा, अविवाहित लड़की को घर में बिठाना अनेक सवालों को जन्म देता है। फिर कोई लड़का तुम्हारी बहनों को नहीं मिलेगा,” पापा ने कहा। मैंने भी तैश में कहा, “तो क्या अब आप पर कोई सवाल नहीं उठेगा ?” “नही बेटा, तुम वहीं रहो, यहाँ आने का मन नहीं बनाना, अपनी बदनामी मैं नहीं सह पाऊँगा। नन्हीं-गुड्डो की शादी में भी अड़चनें आएँगी।” मैंने तत्काल फ़ोन काट दिया। कर्नल साहब मेरे चेहरे पर आते-जाते भाव देख रहे थे। अचानक कहा, “तुम्हें यहाँ कोई कमी नहीं होगी। सब तुम्हें बहू मानते हैं।” तुम चाहो तो नौकरी कर लो। समय कट जाएगा। उस वक़्त मैं कोई सलाह सुनने के मूड में नहीं थी। मैंने उनसे मुझे अकेला छोड़ देने को कहा। उनके जाते ही मैंने दरवाज़ा अंदर से बंद कर लिया। कुछ देर बड़ी परेशान रही। मुझे शादी के पहले की कुछ बातें याद आने लगीं। क्यों सुखदेव अंकल के आते ही हमें बाहर भेज दिया जाता था या फिर नोटों की गड़ियाँ जिसे पिताजी बक्सों में रख रहे थे। तो यह सब पापा का मुँह बंद रखने के लिए दिया गया था। मैंने फिर से अपने घर फ़ोन लगाया। माँ ने फ़ोन उठाते हुए कहा, “बेटा, इन बातों को ज्यादा मत उछालो। अपने घर की बात घर में ही रखो।” “कौन-सा घर माँ ? अब न तो मेरा मायका रहा और न ही ससुराल। बिन दहेज़ की शादी के बदले मेरी ज़िन्दगी का सौदा कर डाला आपने। खैर, आप चिंता न करना, मैं अपना दुखड़ा लेकर कभी नहीं आऊँगी आप लोगों के पास, लेकिन ऐसा धोखा- धड़ी नन्हीं और गुड्डो के साथ कभी न करना। उन्हें अपनी वैवाहिक जीवन को खुशी-खुशी जीने देना।” इतना कह कर मैंने फ़ोन काट दिया।

रात भर में कुछ नया सोचना था। कुछ पल तक अपने को असहाय समझने वाली श्वेता अब आत्मविश्वास से भरी हुई थी। मैंने मामले के तह तक जाने की ठानी। इसके

लिए अपने-आप को नार्मल रखना आवश्यक था। दूसरे दिन सासु माँ के सामने मैंने रात की घटना का जिक्र नहीं किया। उन्हें इन सबसे कोई मतलब भी नहीं था। सवेरे मुझे स्थानीय कॉलेज में अपना आवेदन देने जाना था। सासु माँ ने ड्राइवर को साथ भेज दिया।

मौका पाते ही मैंने ड्राइवर अंकल से कहा, ‘चाचा, आप तो बहुत पुराने हो इस घर में, क्या बता सकते हैं आखिर किस को मात देने के लिए मुझे मुहरा बनाया गया है ?’ चाचा ने एक जगह पर गाड़ी रोक दी और कहा, ‘मुझे तुमसे पूरी हमदर्दी है बेटा, तुम्हें सचमुच मुहरा बनाया गया है।’ विक्रान्त के दादाजी अपनी बहू से खुश नहीं थे। विक्रान्त के पिताजी की एक न चलती थी। उसके दादा जी पुराने विचारों के थे। विक्रान्त सेना में भर्ती होने के बाद काफी अय्याश हो गया था। उसकी गलत आदतों पर रोक लगाने के लिए उन्होंने एक शर्त रखी कि वह स्वजातीय लड़की और उनकी पसंद की लड़की से विवाह करेगा तभी उनकी संपत्ति का वारिस होगा। करीब सात महीने पहले वे पैरालिसिस के शिकार हो गए। तबीयत सुधारने की बहुत कोशिश की गयी लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन बिगड़ती गयी। अभी वे गांव में अपने भाई के घर पर हैं और शायद आज कल के ही मेहमान हैं। इसलिए उनकी इच्छा के अनुसार जल्दबाजी में तुमसे विक्रान्त का विवाह करवाया गया। जबकि उनके गांव जाते ही विक्रान्त ने अपने बॉस की बेटी से शादी रचा ली। यह सब उन्हें नहीं बताया गया है।” ड्राइवर चाचा ने एक सांस में सारी बात बता दी। साथ में इशारा भी किया कि उसे अपने पैरों पर खड़ा होकर उनसे अलग हो जाना चाहिए क्योंकि जैसे ही दादा जी की मौत हो जाएगी, मोना और विक्रान्त यहीं आ कर रहने लगेंगे।

कॉलेज में आवेदन देने के बाद जल्द ही मेरा इंटरव्यू हुआ और मुझे नौकरी भी मिल गयी। इस बीच महीने भर का समय निकल गया। घर में मुझे हर किस्म की आज़ादी थी। सास ज्यादातर अपने कमरे में रहतीं। कभी-कभार मेरी उनसे बात होती। पति के सुख से वंचित रहने के अलावा और कोई दबाव या शर्त मुझ पर नहीं था। हाँ,

गांव से रोज़ दिन दादा जी के साथ सासु माँ की बातचीत होती और किसी के आने पर मुझे विक्रांत की पत्नी की तरह पेश आना पड़ता। यही दिखावा मुझसे बर्दाश्त नहीं होता पर मैं बेबस थी। आखिर एक दिन कॉलेज से मेरी नियुक्ति का पत्र मिला। मैंने सासु माँ को दिखाया। उनके चेहरे पर सामान्य-सा भाव रहा। मैंने माँ को भी फोन पर यह जानकारी दी। माँ ने बधाई देते हुए कहा, 'चलो, तुम्हें अपने परिश्रम का फल मिल गया। तुम्हारे घर का खालीपन अब तुम्हें नहीं काटेगा। तुम व्यस्त रहोगी और तुम्हारे पैसों से तुम्हें आत्मबल मिलेगा।' मेरे जीवन को जानबुझ कर नरक बना कर शायद कुछ ग्लानि महसूस हुई होगी इसलिए उन्होंने मेरे इस नए कदम का स्वागत किया। मेरे नौकरी ज्वाइन करने पर घर के नौकर-चाकर बहुत खुश थे। एक अबोला, प्यारा-सा रिश्ता उनके साथ जुड़ गया था।

फिर एक दिन वह दिन भी आ गया जिसके बाद के परिणाम को देखने के लिए घर में सभी बेताब थे। दादा जी का देहांत हो गया। उनकी मृत्यु के एक दिन पहले सासु माँ और विक्रांत गांव चले गए थे। वे वहाँ से सारे काम-काज निबटा कर आने वाले थे। किसी ने मुझे वहाँ नहीं बुलाया। वे मुझे दादा जी से दूर ही रखना चाहते थे। इस बीच कॉलेज में मेरी अनेक सहेलियाँ बनीं। उनमें से एक ने मेरी कहानी सुनकर सलाह दी कि अभी अच्छा मौका है, मुझे उनसे अलग हो जाना चाहिए। पर मैंने यह सलाह नहीं माना। इतना अवश्य किया कि एक कमरा का एक फ्लैट किराये पर लेकर ज़रूरत के सामान वहाँ इकट्ठा करना शुरू किया। इसकी खबर केवल झाड़वर चाचा को थी। हफ्ते भर के बाद सासु माँ और विक्रांत वापस आ गए। तीन-चार दिनों के बाद एक दिन सवेरे मैं विक्रांत मेरे कमरे में आये और एक लिफाफा पकड़ाते हुए कहा, 'इसमें तलाक़ के पेपर्स हैं, दस्तखत कर देना।' मैंने पेपर्स इत्मीनान से ले लिया और कहा, कल तो कोर्ट का काम ऐसे भी नहीं होगा, रविवार है। आप परसों ये पेपर्स ले लेना।' इतने निर्विकार भाव से दिए मेरे जवाब से विक्रांत हड़बड़ा गए।

संपर्क: डी. १५, सेक्टर- ९, पीओ- कोयलानगर, जिला-

उन्हें लगा था मैं कुछ होहल्ला मचाऊँगी, इसलिए उनके साथ सासु माँ भी आई थीं जो दरवाज़े पर खड़ी थीं।

सोमवार की सुबह मेरे कॉलेज जाने के पहले विक्रांत तलाक़ के कागज़ात लेने आये। बैठक कक्ष में वे सासु माँ के साथ बैठे थे, वहीं से उन्होंने मुझ तक खबर भिजवाया। तलाक़ के पेपर्स के साथ एक बड़े बैग को लिए मैं नीचे आयी और उनके सामने खड़ी होकर कहा, 'आपको तलाक़ के पेपर्स चाहिए न, ये लीजिये। उन्होंने उसे खोलकर पढ़ा और वाक्यों में परिवर्तन देख कहा, 'ये तो वो पेपर्स नहीं हैं।' मैंने उनके लिफाफे को बैग से निकाल कर कहा, 'हाँ, आपके पेपर्स ये हैं, और उनके टुकड़े- टुकड़े कर दिए। सासु माँ ने मुझ पर झपटते हुए कहा, 'ये क्या कर रही है नालायक?' मैंने उन्हें एक हाथ से रोकते हुए कहा, 'नालायक मैं नहीं, आप हैं और आपके सुपुत्र जिन्होंने मेरे साथ-साथ अपने दादा जी को भी अँधेरे में रखा।' तलाक़ आप नहीं देंगे, मैं आपको दूंगी, 'विक्रांत से मुखातिब होते हुए मैंने कहा।' अदालत में आवारागर्दी और ऐय्याशी का इलज़ाम लगाते हुए पहली पत्नी के होते दूसरी शादी रचाने का भी इलज़ाम आप पर होगा।' विक्रांत ने मेरी बाँह पकड़ कर चिल्लाते हुए कहा, 'पागल हो गयी हो क्या, तुम इस घर की बहू हो।' मैंने भी चिल्लाते हुए कहा, 'किस बहू की बात कर रहे हैं आप? कितने दिन मेरे साथ बिताये हैं?' सुनते ही सासु माँ ने कहा, 'तुम्हारे पिताजी को इसी की मोटी रकम तो चुकाई थी हमने, बदले में तुम्हें वही करना होगा जो हम चाहते हैं।' मैंने विरोध करते हुए कहा, 'पिताजी को उनकी साधारण आय और तीन बेटियों की चिताओं को हल्का करने का वास्ता देकर आपने जो सौदा किया उसका पाई-पाई तो मैंने अपनी खुशियाँ बलिदान कर चुका दिया। अब आपको वही करना पड़ेगा जो मैं चाहूँगी और जो कोर्ट का आदेश होगा, कहते हुए मैंने अपने बैग को उठाते हुए कहा, यह घर आपको मुबारक हो। मैं अपनी ज़िन्दगी अपने अनुसार जीने के लिए जा रही हूँ, कहते हुए मैं बाहर निकल गयी।

धनबाद-८२६००५, झारखंड, मो. ९४३१३२०२८८

कहानी - कउआ हँकनी की उर्मिला शुक्ल

बाहर से लौटकर गेट खोला, तो भीतर कुछ पत्र पड़े थे। दो लिफाफे और बाकी पोस्ट कार्ड थे। पत्र जब चलन से बाहर हो चले हों, ऐसे समय में इन पत्रों का आना, मेरे लिए किसी नेमत से कम नहीं था। उन्हें उठाकर टेबल पर रखने लगी तो एक पोस्टकार्ड ने मेरा ध्यान खींचा। मैंने देखा उसके कोने पर हल्दी का निशान था। हल्दी का ये निशान। “यानी ये विवाह का निमंत्रण है। जरूर ये हमारे गाँव से ही आया होगा। वरना आजकल तो इस तरह के निमंत्रण का रिवाज ही नहीं रहा। अब तो निमंत्रण पत्र स्टेटस सिंबल हो गए हैं। निमंत्रण पत्र में भी कोई चाँदी की घंटियाँ लगवाता है, तो कोई सोने के सिक्के।” सोचते हुए मैंने देखा। वह बड़की अम्मा का पत्र था। पत्र क्या था केवल तीन ही वाक्य थे उसमें, बिटिया को शुभ आशीर्वाद।

तुम्हारे भाई का ब्याह है। जरूर आना बिटिया। इस खत को ही निमंत्रण समझना।

तुम्हारी अभागिन

बड़की अम्मा।

इस पत्र को पढ़ने के बाद शेष दोनों पत्र पढ़ने की याद ही नहीं रही। मन तो इन तीन पंक्तियों में ही उलझ कर रह गया था। अभागिन बड़की अम्मा! माँ और अभागन? मगर उनके संदर्भ में शायद ये शब्द ही सटीक थे। मेरी आँखें अब विगत को खँगाल रही थीं।

कुछ भी तो नहीं मिला था उन्हें, जिसे वे अपना सौभाग्य कहतीं। पत्नी बनकर भी उन्हें वो अधिकार, वो सम्मान तो मिला ही नहीं, जो मिलना चाहिए। उनके प्रेम और समर्पण के बदले मिली तो बस घृणा और उपेक्षा, समाज से और परिवार से भी। पर ऐसा क्या किया था उन्होंने? यही कि अपने शराबी और ऐय्याश पति को छोड़कर, ताऊ जी का हाथ थाम लिया था। क्या ये अपराध था?

हाँ! एक औरत अपना फैसला खुद ले ले। और वो भी ऐसा फैसला जो, समाज के लिए चुनौती बन जाए, तो ये अपराध ही तो है। सो सजा तो मिलनी ही थी। और सजा मिली थी उन्हें। परिवार से भी और समाज से भी। न S न! कोई शारीरिक दंड नहीं मिला था उन्हें, पर जो दंड मिला था, वो चाबुक की मार से कम नहीं था। उनके तन पर तो कोई निशान नहीं थे। मगर, मन वो छलनी हो चुका था। पूरी तरह से खारिज कर दिया था उन्हें, समाज से और परिवार से भी। उनके विवाह को भी कहाँ स्वीकारा था लोगों ने। तभी तो उन्हें लोग ‘उढ़री’ कहने लगे थे। ‘उढ़री’ यानी भागकर आई औरत। हलाँकि वे भागकर नहीं आई थीं। बाकायदा कोर्ट मैरिज थी उनकी। मगर इस गाँव के लोगों के लिए उस विवाह का कोई महत्व ही नहीं था। सो वे ‘उढ़री’ शब्द के दंश को झेलने को विवश थीं। मगर आश्चर्य तो ये था कि ताऊ जी से कभी किसी ने कुछ नहीं कहा। अगर ये अपराध था, तो अपराधी तो वे भी थे न! मगर वे पुरुष थे और हमारे समाज में पुरुष की तो कोई गलती होती ही नहीं।

फिर भी बड़की अम्मा ने कभी कोई शिकायत नहीं की। परिवार ने तो उन्हें कभी नहीं अपनाया था; पर उन्होंने सबको अपना लिया था। सबसे बहुत प्रेम करती थीं वे। मुझ पर तो उनका विशेष स्नेह था। मुझे

भी वे बहुत अच्छी लगती थीं। मगर अम्मा को तो उनसे चिढ़ सी थी। जब भी मैं उनके पास होती, अम्मा मुझे वहाँ से बुला ले जातीं। और कहतीं—

“तू वोहके पास न जाया कर।”

“काहे?”

“ऊ अच्छी औरत नाही है।”

“का ऊ गंदी हैं? पर ऊ त बहुत सुंदर हैं। तुमसे भी सुंदर।” भोलेपन से कही मेरी बात से वे बौखला जातीं और मुझे खूब मारतीं। मगर मैंने न उनके पास जाना छोड़ा और न ही अम्मा ने पीटना।

फिर विजय का जन्म हुआ। अब वे बहुत खुश थीं और ताऊ जी भी। मगर परिवार? परिवार तो और भी कँटीला हो गया था, बिल्कुल नागफनी जैसा। खासकर अम्मा। सो वे जब तब उनसे उलझ ही जातीं थीं। उनके लड़के का हक जो मारा गया था। अब तक ताऊ जी की जायदाद का वही तो वारिश था। मगर अब तो विजय की विजय हो चुकी थी। आश्चर्य! समाज को विजय से भी कोई परहेज नहीं था। वो किसी ‘उढ़री’ का नहीं, ताऊ जी का बेटा था। सो उसकी बरही पर सारे जँथीवार का भोज हुआ था। मगर परिवार? न तो उसकी नजर बदली और न ही नजरिया।

मेरा विवाह हो रहा था। सोहगइली खिलाने के लिए सुहागिनें बुलाई गई थीं। गाँव भर की औरतें वहाँ थीं, अगर कोई नहीं था, तो बड़की अम्मा। होतीं भी कैसे? अपशकुन जो हो जाता। सो विवाह की किसी भी रस्म में उन्हें शामिल नहीं किया गया था। मेरी विदाई का समय था, सारा गाँव एकत्रित था, मगर वे वहाँ भी नहीं थीं और मेरा मन व्याकुल था, उनसे मिलने को। सो मैं उनके कमरे की ओर बढ़ ही रही थी कि—

“बौरी भई हो का? ई सुभ घड़ी म ओहर कहाँ...?” कहते हुए अम्मा मेरे सामने आ खड़ी हुई थीं। उनकी आँखों से जैसे अंगारे बरस रहे थे। और उनके उस अधूरे वाक्य में छिपा अर्थ बींध गया था मुझे। मगर उस समय मैं विरोध की स्थिति में नहीं थी। सो लौट आई थी। मगर मैंने देखा था, दरवाजे की झिरी से झाँकती दो आँखें।

कितनी व्याकुलता थी उनमें। फिर तो उनसे मिलने को मेरा मन और भी अकुला उठा था; मगर सारी औरतों की नजरें मुझ पर ही थीं और उनकी नजरों में बड़की अम्मा, किसी शुभ काज के लायक तो थीं नहीं। सो—?

मैं विदा हो गई। बड़की अम्मा की परछाई भी मुझ पर नहीं पड़ी थी; मगर क्या मैं सुखी हूँ? शायद सुखी ही हूँ। लोग तो यही कहते हैं। क्या कमी है मुझे; आलिशान घर, गहनों से भरा लॉकर और कमाऊ पति। एक औरत को और क्या चाहिए भला? इन्हीं सोचों में समय का पता ही नहीं चला।

पुरुषोत्तम आ चुके थे। सो रसोई में जाकर चाय बनाई। वापस आई तो वे अखबारी दुनिया में खो चुके थे। कोई और दिन होता, तो मैं चाय रखकर भीतर चली जाती, मगर आज तो...। सो—

‘सुनिए।’

...देर तक कोई जवाब नहीं मिला तो—

‘सुनिए।’

“अब कहो भी। मैं बहरा तो हूँ नहीं।” यह कोई नई बात नहीं थी। मुझसे बात करने का यही अंदाज रहा है इनका। तभी तो हमारे बीच महीनों कोई बात ही नहीं होती। आज भी मन कसैला हो उठा था। मन में आया कि कुछ कहूँ ही न....। मगर विवाह वाली बात तो बतानी ही थी। सो मैंने पत्र उनके आगे रख दिया। कुछ देर तक, फिर वही खामोशी, फिर—

“तुम चली जाओ। मुझे फुरसत नहीं हैं।”

मुझे मालूम था जवाब यही होगा। हमेशा यही होता रहा है। इसी के चलते तो सारी बिरादरी से कट गई हूँ मैं। किसी के काज परोजन में जाना हो ही नहीं पाता। अकेले जाकर लोगों का निशाना बनना? मुझमें इतनी हिम्मत नहीं थी। सो मैंने खुद को समेट लिया था, मगर इस बार सवाल मेरी बड़की अम्मा का था। सो....।

सुबह की बस थी। माली काका मुझे बस में बिठाकर लौट चुके थे। बस के छूटने का समय हो चुका था और बस भी ठसाठस भरी थी, फिर भी कंडक्टर सवारियों को

हाँक लगाए जा रहा था। गर्मी से मेरा मन अकुला रहा था। पर ... ? वह सवारियाँ भरता ही जा रहा था। जब बीच की जगह भी भर गई तब बस चली थी। मेरी सीट खिड़की के पास थी। सो कुछ राहत सी मिली, तो मन फिर गाँव जा पहुँचा था। विजय अभी किशोर ही था कि ताऊ जी चल बसे थे। संयुक्त परिवार था। ताऊ जी घर के कमाऊ पुरुष थे; मगर अब उनके परिवार को बिठा कर कौन खिलाता। सो संपत्ति का बँटवारा हुआ। सारी संपत्ति परिवार ने हथिया ली। बड़की अम्मा के हाथ आई थी चौपाल और ताऊ जी के नाम का ढेर सारा कर्ज। जाने कितने कितने लेनदार पैदा हो गए थे। कभी जिसकी शक्ल तक नहीं देखी थी, वो भी द्वार पर आ खड़ा हुआ। क्या करती वैं। अपने जेवर बेचकर कर्ज अदा किया और कुटैनी-पिसौनी करके गुजारा करने लगीं। फिर भी उनकी कोशिश रही कि विजय पढ़ जाए, कुछ बन जाए वो, मगर पिता के जाते ही एकदम आजाद हो गया वो। फिर शराब और गाँजे में डूबता चला गया था।

सालों पहले गाँव गई थी मैं। उनकी हालत देखकर मन दुखी हो उठा था। जिनके घर में हमेशा मनई रहता रहा था। जिसने कभी आँगन के हैंडपंप से भी पानी नहीं भरा था, वो अब अपना ही नहीं औरों की चाकरी करने पर मजबूर थीं। मैंने उन्हें अपने साथ चलने को कहा, तो –

“बिटिया के घर ? नहीं बिटिया।” कहकर हाथ जोड़ लिए थे। मैंने बहुत कोशिश की; मगर वे तैयार ही नहीं हुई थीं। मैंने सरपंच काका से बात करके उन्हें आँगनबाड़ी में सहायिका का काम दिलवा दिया था।

फिर सालों तक गाँव जाना नहीं हुआ। लोग आते, तो खबर मिल जाती। खबर मिली कि विजय पर भी परिवार का रंग चढ़ने लगा है। अब बड़की अम्मा सबसे बड़ी दुश्मन थीं उसकी। तब किशोरावस्था थी। नासमझ था। अब बदल गया होगा। ब्याह जो है उसका। सोचा मैंने।

शाम होते होते गाँव आ गया। पहुँचते ही रिश्ते की भाभी, चाची, सबने मुझे घेर लिया था। भाभी की नजरें तो मेरे कंगन पर अटकी हुई थीं कि— “चलो हटो हिंया से। हमरी बिटिया के सुख को नजर न लगाव। अब कउने

अइसे-वइसे घर म तो ब्याहा नहीं है न। हमार दमाद तो हीरा है हीरा।” अम्मा ने अपनी तारीफ के साथ-साथ उन पर कटाक्ष किया तो— “हाँ चाची! फिर ऊ हीरा के लाल भी होते तो.... ?” कहकर भाभी ने उनकी दुखती रग ही मसल दी थी। अम्मा को बर्दाश्त न था कि कोई उनके दामाद की ओर ऊँगली उठाए। और कोई समय होता तो वे उनके सात पुरखे तक नाप देतीं ? मगर आज ? सारा आँगन औरतों से भरा था। सो मन मसोसकर रह गई थीं वे। मैंने देखा, बड़की अम्मा आज भी वहाँ नहीं थीं। आज तो उनके अपने बेटे का ब्याह था ? और वे ही ? सोचा मैंने। फिर मेरी निगाहें विजय पर जा टिकीं। तमाम औरतों से घिरा विजय हँसी मजाक में व्यस्त था। उसे तेल चढ़ रहा था। यह एक महत्वपूर्ण रस्म थी। मगर बड़की अम्मा ? वे वहाँ नहीं थीं। सो—

“अम्मा ! बड़की अम्मा कहाँ हैं ?”

“होइहंय अपने चौपार म।”

“क्यों यहाँ क्यों नहीं आई ?”

“बऊरा गई हो का ? एक तव ‘उढ़री’, ऊपर से बेवा। असगुन करय क हय का ? तनिक व अकिल नहीं हय। तोहार पढ़ा लिखा सब बेकारय हय।” कहकर उन्होंने मुझे ही नासमझ करार दे दिया था। फिर तो वहाँ कुछ कहना ही बेकार था। सो मैं बाहर आ गई और मेरे कदम चौपाल की ओर बढ़ चले थे। वे अँधेरे में लेटी हुई थीं। उनकी साँसें बता रही थीं कि वे रो रही हैं। मेरी आहट पाकर वे उठ बैठीं थीं और अरे बिटिया! तुम कब आयीं ? वे सामान्य होने की कोशिश कर रही थीं।

“बड़की अम्मा आप यहाँ ? ऐसे अकेले ? हुआ तेल चढ़ रहा है और आप ?”

“बिटिया हमार उहाँ का काम। बस विजय सुखी रहय आउर का चाही हमें।”

“बड़की अम्मा आप भी ? आप मानती हैं कि वहाँ जाने से विजय का सुख छिन जाएगा। आपकी सोच तो सबसे अलग थी! फिर अब ?”

“वहय सोच तव हमका...। हम टूट गई हैं बिटिया। जिंदगी भर जूझ कय का मिला ? अब तव आपन बच्चा

भी ?” कहते हुए वे फफक पड़ी थीं। ये कैसी व्यवस्था है ? “जहाँ एक माँ जो बच्चे को साँसें देती है उसके लिए मंगलकामनाएँ करते जिसकी जुबान थकती नहीं है; अपने बच्चे के लिए अपशकुनी हो जाती है ?” मैं सोच रही थी कि तभी वहाँ अम्मा आ गई और—

“अरे दिया तब बार लेतिव। लरिका कय बियाह है। कोई मरा नाही है। अब रोय-रोय कय असगुन तब न करव!”

“अम्मा अइसे जरे पर नोन तब न छिरकव! उ तब वयसय दुखी हैं ऊपर से” मेरी आवाज तल्ल हो उठी थी। मेरा उनके पक्ष में बोलना उन्हें अच्छा नहीं लगा था। पर कुछ कहा नहीं था। कुछ देर तक चुप रहीं। फिर...

“चलव चलिके तुँहुँ तेल चढ़ाय देव।”

मैं बड़ी बहन थी और सुहागन भी। सो तेल की रस्म में मुझे जाना पड़ा। मैं चली गई थी उनके साथ, मगर तेल चढ़ी की उस रस्म में मन नहीं लगा था मेरा। विवाह की तमाम रस्मों में अम्मा ही आगे रहीं, वे कहीं नहीं थीं। अकेली अपनी चौपाल में ही पड़ी रहीं वे। बारात सजी, दूल्हा मियाना में बैठे, उससे पहले ‘दूध पियववा’ की रस्म होनी थी। इस रस्म में माँ अपने बेटे से अपने दूध का कर्ज उतारने की बात कहती है। वह उसे धमकी देती है कि यदि उसने ऐसा नहीं किया; तो वह कुएँ में कूदकर अपनी जान दे देगी और बेटा उसे विश्वास दिलाता है कि वह उसका कर्ज उतारने के लिये विवाह करने जा रहा है। विवाह के बाद वे दोनों जिंदगी भर उसकी सेवा करेंगे। इस रस्म में तो उन्हें ही होना ही था। सो मेरी निगाहें उन्हें ढूँढ़ रही थीं; मगर इस रस्म को भी अम्मा ही निभा रही थीं। जिसके दूध से उसका कोई संबंध ही नहीं था, वो दुध पियववा की रस्म निभा रही थीं और जिसने अपना जीवन ही होम कर दिया था, वो ... ? सोचकर मन कसैला हो उठा था। बारात रवाना हो गई। घर में रात भर नकटा गाया गया। हँसी मजाक भरे स्वाँग रचे गये सारा घर रौशनी से जगर मगर करता रहा; मगर चौपाल अँधेरे में ही डूबी रही। बहू आई तो परछन से लेकर सारी रस्मों में

फिर अम्मा ही ...। मेरा मन उन रस्मों में रम ही नहीं पा रहा था। सो अगले दिन ही मैं लौट आयी थीं।

फिर कभी गाँव जाना हुआ नहीं। बस उनकी खबरें आती रहीं कि विजय ने उन्हें घर से बाहर निकाल दिया है कि अब वे घर से बाहर जानवरों के मड़हा में रहती हैं। फिर खबर आई कि वे गाँव से बाहर वाली महुवारी (महुये का बगीचा) में रहने लगीं हैं। फिर खबर आई कि उनका मानसिक संतुलन बिगड़ गया है। अब वे गाँव भर में भटकती फिरती हैं। जिन हालातों में वे जी रही थीं, उसमें ये तो होना ही था। सोचकर मन बेचैन हो उठा था। आँखों में उनकी वो भटकती छवि उभरी, तो मुझसे रहा ही नहीं गया था और मैं गाँव के लिए रवाना हो गई।

गाँव पहुँचकर उन्हें बहुत ढूँढ़ा मगर वे नहीं मिलीं। फिर गाँव के बाहर महुवारी में जाकर देखा तो पीपल के पेड़ के नीचे खड़ी, एक औरत, कौवों पर पत्थर फेंक रही थी। उसके बदन पर चीथड़े लटक रहे थे। वो बड़की अम्मा थीं। आँचल से ढके रहने वाले सिर पर आज आँचल नहीं था, वह तार-तार होकर धूल में पड़ा था। बचपन में दादी एक कहानी सुनाया करती थीं। कउआ हँकनी की कहानी। एक औरत को कउआ हँकनी बना दिए जाने की कहानी। आज वो कहानी नहीं हकीकत बन कर मेरे सामने थी। मैं उनकी ओर बढ़ी तो वे भागकर महुवारी के उस भाग में जा छिपीं थीं जो बहुत घना था। वहाँ कँटीली झाड़ियाँ थीं। मैंने बहुत ढूँढ़ा था उन्हें पर वे नहीं मिली थीं। अँधेरा हो गया था। अब शहर लौटना संभव नहीं था। सो मुझे घर जाना पड़ा, वरना उस घर में जाने का न तो मन था और न ही कोई कारण।

मैंने देखा। घर पे सब खुश थे। लगा ही नहीं कि उस घर का कोई सदस्य है जो यूँ ... ? मैंने भी कुछ नहीं पूछा। मुझे सुबह का इंतजार था। सुबह होते ही मैं एक बार फिर महुवारी गई। छुपने की हर जगह को देखा, मगर वे कहीं नहीं थीं। हारकर मैं लौट आई। मगर इस बार मैं अकेली नहीं थी। मेरे साथ थी, कौवा उड़ाती एक छवि।

संपर्क: ए-२१, स्टील सिटी, अवन्ति विहार, रायपुर, छत्तीसगढ़, मो. ९८९३२९४२४८

ऐसी लड़कियाँ

रमा जोशी

“ऐसी लड़कियाँ घर-घर में हों, कितनी समझदारी से सारा काम करती हैं।”

“हाँ- जरा भी अकड़ नहीं, बड़ी शालीनता से सब से पेश आती हैं।

“और पढ़ाई-लिखाई में भी तो अच्छी हैं। आप ही सब कुछ करती। घर वालों को यह भी नहीं भी नहीं पता होता कि सब्जेक्ट्स कौन से लिए हैं।”

“हाँ, पर इसके परिवार वाले इस बात पर खुश तो होते हैं कि अच्छे ग्रेड लाती है।”

“सच...बच्चे ठीक तरह से पढ़ें-लिखें तो घर वालों को क्या और जानने वालों को भी अच्छा लगता है।”

“हाँ... सो तो है ...इस मुल्क की खराब हवा इसे न लगे।”

मैं कभी सोचती भी कि इस मुल्क की हवा अगर इतनी ही खराब है तो हम अपना देश छोड़ यहाँ क्या कर रहे हैं ?

चर्चा जसबीर की हो रही थी जो हमारे घर एक पार्टी के दौरान, मेरा हाथ बंटाने आई हुई थी। वह हमारे घर के करीब ही रहती थी। जब वह अपने माता-पिता के साथ इस देश में आई थी तो कुल एक वर्ष की थी और अब वह सत्रह वर्ष की हो गयी थी।

हमारे परिवार में इस परिवार का काफी आना-जाना था। जसबीर के माँ-बाप गाँव के रहने वाले थे और इंग्लैंड के एक महानगर, बर्मिंघम में पिछले बीस वर्षों से थे। इस देश में उसके पिता एक फर्म में सुपरवाइजर थे पर उसकी माँ घर से बाहर नौकरी करती थी।

जसबीर के अतिरिक्त, चार और भाई-बहिन थे, तीन उससे बड़े और एक छोटा।

हम दोनों पति-पत्नी बाहर रोज काम पर जाते थे और अपने छोटे बच्चे के लिए हमें समय-असमय दूसरों की जरूरत रहती थी। इसी सिलसिले में जसबीर ने हमारे घर बेबी-सिटिंग शुरू की थी। वह अपनी किताबें काम, वगैरह साथ ले आती और खुशी-खुशी, हमारे लौटने तक-रात गये... हमारे घर में रहती। अनेक वर्षों बाद, अब सोचती हूँ तो सोच कर बुरा लगता है, इस काम के लिए, मैं उसे पैसे नहीं देती थी। उसे कुछ छोटे-बड़े उपहार दे दिया करती थी।

कुछ ऐसा, उस परिवार का, हमारे साथ संबंध था कि पैसों की बात करते कुछ ठीक नहीं लगता। हम एक दूसरे के, खुशी-गम के मौकों पर जरूर शरीक होते। एक अच्छा आत्मीय परिवार वालों जैसा संबंध उनके साथ था। कोई सरकारी काम-काज करना होता तो उस परिवार के लोग हमारी सलाह लेने जरूर आते।

जसबीर पढ़ने में अच्छी थी। सब परीक्षाएँ उसने ठीक-ठाक ग्रेड में पास कीं। मैं उसकी माँ को अक्सर कहा करती-“जसबीर को युनिवर्सिटी जरूर पढ़ने का मौका देना।”

“पढ़ने वाली बने-मुझे तो खुद बड़ा शौक है कि मेरी बेटी डिग्री हासिल करे- “...वह कहती ...पर साथ ही कहती -“रास्ते पर चलेगी तो हम इसके साथ हैं।”

“ठीक रास्ते पर क्यों नहीं चलेगी- आपकी बेटी है”, मैं कहती।

“इस मुल्क के हवा-रंग को देख कर कभी बड़ी घबराहट होती है...” वह कहती।

जसबीर को दूसरे शहर में युनिवर्सिटी में दाखिला मिला था। वहाँ जाने से पहले माँ-बेटी एक शाम को हमारे घर आयीं “-आपको कुछ फुरसत हो तो बताएँ-मुझे आपसे कुछ जरूरी बात करनी है।”

मुझे उनके लहजे से कुछ आश्चर्य हुआ। अरे -आप पहेलियों में क्यों बात कर रहे हैं ?”

“...नहीं। बात तो सीधी है, देखिये यह दूसरे शहर में पढ़ने जा रही है। जवान लड़की, मेरा दिल घबराता है... इसे कहें- वहाँ सीधी-सादी, ठीक-ठाक रहें। हमारे घर में से पहली लड़की है जो ऐसे पढ़ने जा रही है”...उसने कहा।

“अरे आपकी जसबीर इतनी समझदार है। आपको तो इस पर पूरा भरोसा करना चाहिए”- मैंने कहा था।

“हाँ ...दूध पीती बच्ची हूँ”...जसबीर ने हँसते हुए कहा था।

“भई -जसबीर -हम सब को तुम से बड़ी आशाएँ हैं। तुम्हें हम बड़े ध्यान से देखते रहेंगे। बस सीधी-सादी रहना” ...मैंने बात को कुछ हल्का बनाते हुए कहा था।

जसबीर, लेस्टर में, पढ़ने चली गई। हर दूसरे-तीसरे महीने जब अपने घर आती तो हमें भी अपनी शक्ल दिखा जाती। खूब उत्साहित रहती, कहती कोर्स काफी मुश्किल है -समय कम ही रहता उसके पास। युनिवर्सिटी के दूसरे वर्ष ,उसके घर वालों ने उसे कार ले दी। अब वह साठ-सत्तर मील, कार चलाकर छुट्टियों में घर आती। वैसे उसके घर वाले काफी साधारण कमाई वाले थे। पर इस बात में, कार लेने में, उनकी उदारता देख कर, मैं कुछ हैरान जरूर हुई। इसलिए भी कि हमने युनिवर्सिटी के दौरान- अपनी बेटी को कार लेकर नहीं दी थी। खैर, हमारी बेटी ने, तब कार चलाने का टैस्ट भी पास नहीं किया था... ?

युनिवर्सिटी के तीसरे वर्ष -एक बार मैंने जसबीर से कहा था- “कोई अच्छा लड़का- वहाँ हो, तुम्हारी बैकग्राउंड का, तो ज़रा आँखें खोल कर देखना।”

जसबीर हँसने लगी थी... “हाँ, माँ भी कहती है -वहाँ हरियाणा के रहने वाले लड़के हों तो बताना।”

‘सच -तुमने क्या कहा’ मैंने हैरान होकर पूछा था।

“मैंने कहा- सोचती हूँ, किसी नोटिस बोर्ड पर लिख कर लगा दूँ, अगर आप इस शहर और इस कास्ट के हैं, तो मुझे कांटैक्ट करें” -उसे हँस कर उत्तर दिया था।

“जसबीर, सच बताओ, वहाँ कोई पसंद आया या तुम्हें कोई पसंद करता हो-” मैंने पूछा था। “आंटी - नहीं। ग्रुप में कई लड़के-लड़कियों को मिलते, जानते हैं पर ऐसे नहीं- मुझे अपनी पढ़ाई पूरी करनी है”- उसने जवाब दिया था।

“देखो जसबीर, वैसे तो मुझे पता है कि तुम समझदार हो पर अगर कहीं कुछ...” मैंने बात अधूरी छोड़ते हुए कहा था। हाँ, अगर कुछ हुआ तो आपसे सलाह लेने जरूर आऊँगी...” उसने कहा था।

जब जसबीर ने डिग्री हासिल की तो उसके माता-पिता, दो भाई, उसकी ग्रेजुएशन पर गए। एक खूब बड़ी ग्रेजुएशन की फोटो, घर की दीवार पर लगाई गई उसकी पार्टी भी की -जहाँ और खाने-पीने के साथ कुछ वाईन की बोतलें भी थी।

मैं मन ही मन सोचती, ले आम ऐसे घर में वाईन पीने देगा, यह उनकी मूर्खता है या अक्लमंदी ? ऐसा सोचने में शायद मेरी बैकग्राउंड का हाथ था। मैं पीने पिलाने के खिलाफ थी। मेरे पति को ऐसा कोई परहेज नहीं था। वह कहा करते थे- शराब पीने वाला सब खराब नहीं होते -जो शराब नहीं पीते -वह सब अच्छे नहीं होते।”

जसबीर के रहन-सहन में मुझे कोई अंतर नजर नहीं आया। अब वह, खूब जी लगाकर काम की तलाश कर रही थी। उसमें जब कुछ दिक्कत आई तो उसने ...वालेंट्री बिना पैसों के काम करना शुरू किया -कुछ काम-काज के अनुभव के लिए। जहाँ उसने काम किया वह एक फैमिली सेंटर था। वहाँ कुछ महीने काम करने के पश्चात वहाँ के इंचार्ज ने उसे सोशल वर्क कोर्स करने की सलाह दी थी। अपने और हमारे परिवार से मशवरा करने के बाद, उसने इसी शहर में, दो साल का सोशल वर्क का कोर्स ज्वाइन किया था।

और देखते-देखते जसबीर एक सोशल वर्कर बन गई। उसके काम का संबंध, परिवारों और बच्चों से था। टूटे हुए परिवार, बेसहारा औरतें और बीच में फँसे हुए छोटी उम्र के बच्चे, जसबीर कई बार इसके बारे में बातें करती और पश्चिम के टूटते सामाजिक रिश्तों के बारे में सोच कर कई बार परेशान हो जाती थी। टूटे हुए रिश्तों को जोड़ना ... चाहे जितना भी समृद्ध समाज हो - सरल नहीं। इस बात पर हम दोनों सहमत थीं। जब कभी, वह उसके कारणों की ध्यान देती तो उसका कहना था, स्वतंत्रता के नाम पर छोटी उम्र के बच्चों को मनमर्जी देना, इसका सबसे बड़ा कारण था।

मेरा कहना था तो भारतीय लोगों का रहन-सहन तो सराहनीय है, इसके मुकाबले में चाहे स्वतंत्रता कम होती है। पर इस बात पर भी वह मुझ से पूरी तरह सहमत नहीं होती थी।

जसबीर अब पच्चीसवें वर्ष में थी और उसकी शादी की बात कभी गंभीर रूप से उठी हो - ऐसा मुझे लगा था। मैं मन-ही-मन सोचती कि उसका परिवार, जैसा मैं सोचती थी... उससे बढ़कर प्रगतिशील था।

एक बार ऐसे ही मैं जसबीर को 'कोई पसंद आया-काम पर' कहकर छोड़ रही थी। वह भी अपनी उम्र से ज्यादा विचारशील और सुलझी हुई लगती थी। मेरे सवाल को उसने गंभीरता से लिया और कहा-

“हाँ, आ गया पसंद - रोज आप पूछती थीं।”

“अच्छा, सच! बताओ कौन है?”

“सब कुछ बताऊँगी- आप से मुझे 'सपोर्ट चाहिए'..” उसने कहा था।

“वह तो ठीक है, पहले घर वालों को बताया है या नहीं? “...मेरी उत्सुकता का अंत नहीं था।

“मैंने कितनी बार-बात उठाने की कोशिश की है, पर माँ सुनना नहीं चाहती-” उसने उत्तर दिया।

“क्यों जिसे तुमने पसंद किया वह ठीक-ठाक तो होगा ही, “...मैंने और जानना चाहते हुए कहा था।

“यह तो मुझे नहीं पता, अपनी ओर से तो है -हाँ-है तो वह सरदार ही, पर कास्ट आड़े में आती है” जसबीर का उत्तर था।

“सिख-धर्म तो जात-पात के विरुद्ध है -फिर...” मैंने पूछा था ?

“यह तो आप समझते हैं, माँ को मेरा स्वयं ढूँढना, अपने, इसका गिला नहीं ...कहती है ...‘अपना’ हो ‘पराया’ नहीं ...कहती है यह बात छोड़ दे -आगे देख - “...उसका कहना था।

“सच जसबीर तुम तो बड़ी परेशान होगी -कब से चल रही है यह बात ? -मैंने पूछा।

“कोई चार-पाँच माह से ऊपर हो गए हैं -पर कोई मेरी बात सुनने को तैयार नहीं-” उसका उत्तर था।

“फिर, तुमने अब क्या सोचा है ? -मैंने कहा।

“आप मेरी माँ से बात करें। वह आपकी इज्जत करती है” -उसका सुझाव था।

“पर मैं इस लड़के के बारे में कुछ नहीं जानती, क्या बात करूँगी ?” -मैंने कहा था।

“आप जो कुछ इसके बारे में जानना चाहती हैं, मैं आपको बताऊँगी। मनजीत मेरे डिपार्टमेंट में काम करता है। वह भी सोशल वर्कर है, उम्र मेरे बराबर है। माँ-बाप के साथ रहता है- उनका सबसे छोटा लड़का है। देखने में भी ठीक-ठाक है ...और क्या बताऊँ.. ?” उसका उत्तर था।

मैं थोड़ी सोच में पड़ गई। इतने वर्षों का संबंध था, इस परिवार के साथ पर था तो औपचारिक ही। उनके इतने नाजुक संबंध में, जब कि मैं जानती हूँ कि वह इससे नाखुश हैं, मैं क्या राय दे सकती हूँ ?

अपने पति से बात की, तो उन्होंने भी बड़ी सावधानी इस्तेमाल करने की सलाह दी। साथ में यह भी कहा- “तुम गाँव के रीतिरिवाजों से बिल्कुल नावाकिफ हो। इतने वर्षों से भले ही जसबीर का परिवार इस मुल्क में है, अपने काम करने के ढंग पर इन्हें मान है। हम इनका मान कैसे तोड़ सकते हैं ? इनसे चार-छह जमात ज्यादा पढ़ना-लिखना, इसका इस बात से कोई ताल्लुक नहीं।”

मैं, मन बना कर, हिम्मत कर के, जसबीर के घर गई। उन्होंने मेरा वैसा ही आदर सत्कार किया, जैसा कि वह परिवार हमेशा करता था। जसबीर ने मुझे बताया था कि

मनजीत के माता-पिता, उसके माता-पिता से मिलना चाहते थे, उनके घर आ कर।

मैंने भूमिका बाँधी- “जसबीर-आई थी-अच्छा काम कर रही है- बहुत बिज़ी रहती है।

“हाँ, अब जो पैसे देते हैं, वह जान भी तो पूरी लेते हैं- कैसा सूखा-सा मुँह हो गया उसका?...” उन्होंने कहा था।

“आपको शायद पता होगा- मैं जसबीर की बात करने आई हूँ” मैंने कुछ झिझकते हुए कहा था।

“आप तो उसे हमेशा अच्छी ‘मत’ ही देते रहे हैं। इस बार भी आप अक्ल की बात ही करेंगी...” उन्होंने शांति से कहा।

“जसबीर एक लड़के की, मनजीत की, -बात कर रही थी। वह उसे जानती है, साथ ही काम करता है। उसके माता-पिता आपसे मिलना चाहते हैं-” मैंने आने का उद्देश्य बताया।

“देखिये बहनजी, जिस गाँव नहीं जाना, उसका नाम क्या लेना? जसबीर तो नासमझ है- वह इसके बारे में क्या जानती है?...” उनका कहना था।

“नहीं जसबीर को जितना मैंने देखा है -कोई जल्दबाजी में कदम उठाने वाली नहीं है”... मैंने उसकी मदद करनी चाही।

“है तो फिर भी बुद्ध, इन मामलों में-” उन्होंने अपनी बात पर अड़ते हुए कहा।

“वह कह रही थी, आप लड़के और उसके माँ-बाप को एक बार मिल लें। वह आने को तैयार हैं।” मैंने बात आगे बढ़ानी चाही।

“मुझ- हमें- किसी से नहीं मिलना। कोई बात आगे बढ़ानी हो, तो मिलना-मिलाना अच्छा लगता। मुझे यह सब पसंद नहीं...” उनका पक्का जवाब था।

“आपको क्या पसंद नहीं?” -मैंने पूछा।

“वह हमारे काम के नहीं। मैं यह नहीं कहती, छोटे हैं या बड़े हैं। बस शादी-ब्याह तो बराबरी में अच्छा होता है”, उनका दो टूक जवाब था।

“आप जाति की बात कर रही हैं? है तो वह भी सरदार।” मैंने कहा।

“देखो बहन जी, आप इन बातों को नहीं समझेंगी। जसबीर आपकी बात मानती है। उसे कहें यह ख्याल छोड़ दें। वह क्या सोचती है, हमें उसकी शादी की फिक्र नहीं। अच्छे से अच्छे घर उसकी शादी करेंगे”, उन्होंने थोड़े जोश में कहा।

मैं अपना-सा मुँह लेकर वापस आ गई। जसबीर को उसके काम पर फोन करके बताया कि वह कुछ मानने-सुनने को तैयार नहीं। जसबीर ने शांति से सुना और कहा- “मुझे यही डर था... पर मैं भी इरादे की पक्की हूँ।”

इस घटना के तीन-चार सप्ताह बाद, एक बार फिर जसबीर आई। मुझे लगा कुछ खास बात करने आई थी। पूछने पर बताया- “मनजीत के माँ-बाप उसे मिलना चाहते हैं, उसका इरादा जानने के लिए। फिर शादी की तारीख पक्की होगी। मैं चाहती हूँ- आप मेरे साथ चलें” -उसका कहना था।

“मैं... तुमने अपने बड़े भाई-बहिन को भी तो बताया होगा। कोई तुम्हारा घर वाला तुम्हारे साथ होगा, तो अच्छा होगा” मैंने पीछा छुड़ाते हुए कहा था।

“हैं तो वह मेरे साथ, पर कहते हैं माँ का दिल नहीं तोड़ सकते” उसका जवाब था।

“और तुम तोड़ सकती हो, तुम तो अपनी माँ की लाडली हो,” मैंने कहा था।

“मैं कब ना करती हूँ। पर जब मेरे इतना कहने के बाद भी टस से मस नहीं होते, तो क्या करूँ? मैं कहाँ उन्हें दुखी देखना चाहती हूँ? ...उसने परेशान होकर कहा।

“तुम रिश्ता तोड़ लोगी, परिवार से” ...मैंने पूछा था?

“नहीं, रहूँगी तो मैं उनकी बेटी ही। पर इस समय मैं बड़ी मुश्किल मोड़ पर हूँ। फैसला तो मुझे लेना ही पड़ेगा। आप मेरे साथ आ सकती हैं ...तो ठीक है, मैं तो जाऊँगी ही” उसका फैसला था।

मैंने टालमटोल करने की कोशिश की। कुछ काम का बहाना बनाया और कहा कि किस दिन को वहाँ जा पाऊँगी, कुछ समय के बाद बताऊँगी।

मन ही मन स्वयं को धिक्कार रही थी... अपनी इस कायरता पर।

अपने पति से सलाह की। उनका कहना था, “बिल्कुल इस बात में न उलझो— इतने वर्षों के संबंध को तुम खत्म कर दोगी। जसबीर के माता-पिता, उसका परिवार— तुम्हें कभी माफ नहीं करेंगे, यदि उनकी मर्जी के खिलाफ, तुमने उसका साथ दिया। कल कुछ ऊँची-नीची बात हो जायेगी, तो सारा दोष तुम पर आयेगा...आदि।”

बड़े समाज सेवक थे मेरे पति, इन बातों की समझ उन्हें वाकई मेरे से ज्यादा थी।

पर मैं जसबीर को—न— किस मुँह से करती ? दो—तीन सप्ताह जसबीर को टालती रही फिर मन पक्का किया। पागल लड़की तो है नहीं, मैं नहीं भी जाऊँ, उसका इरादा तो पक्का है। इस समय जब वह मेरा सहयोग चाहती है, तो मैं उसके साथ जरूर जाऊँगी। इस बहाने मैं मनजीत और उसके माता-पिता से मिल लूँगी। यदि मुझे कुछ ठीक न लगा तो सही-सही जसबीर को कह दूँगी। शेष उसकी इच्छा।

अपने पति को बिना बताये, एक शाम मैं और जसबीर मनजीत के घर चल पड़े। जसबीर बड़ी नर्वस थी और मैं भी चुप-चुप थी।

मनजीत के माता-पिता के साथ मुलाकात ठीक ही रही। उसके पिता ने जसबीर से सीधा प्रश्न किया, “तुम पक्की हो इस रिश्ते के बारे में, कल तुम घबराकर पीछे न हट जाना।”

और मुझे पूछा— “आप इसके परिवार के तो नहीं हैं—यह तो मैं आपके बोलने के लहजे से जान गया हूँ। आप बताइए—क्या दोष है हमारे मनजीत में ? क्या ऐतराज है इसकी माँ को ? मैं भला क्या जवाब देती ? मनजीत मुझे अच्छा लगा। मुझे जसबीर ने बताया था कि मनजीत के छह भाई-बहनों के परिवार में दो का विवाह अंग्रेज लड़के-लड़की से हुआ था।

मनजीत की माँ ने और कहा, “देखिए, बच्चों के साथ नहीं चलेंगे, तो हम इन्हें खो देंगे। बच्चे खुश रहें ...हमें और क्या चाहिए... ?

खैर, मुलाकात का मकसद था, शादी की तारीख पक्की करना। शादी गुरुद्वारे में तय कर दी गई। मनजीत के पिता ने कहा— “शादी हमारी ओर से होगी— जसबीर के माता-पिता आएँ चाहे न आएँ।”

जसबीर और मैं सहमी-सहमी वापस आयीं। मुझे घबड़ाहट हो रही थी। इतना बड़ा फैसला और जसबीर के माता-पिता को इसकी खबर भी न थी। जसबीर ने कहा कि रजिस्ट्रेशन की तारीख वाला खत वह कमरे में मेंटलपीस पर रख देगी।

अब मुझे बड़ी चिंता थी कि यह सब करने के बाद, शादी की तारीख पक्की होने की बात मैं जसबीर के माता-पिता से छुपा नहीं सकती थी। दो-तीन दिन के पश्चात, मैं उनके घर गई और सच-सच सब कुछ बता दिया।

उन पर जैसे बिजली गिरी। मुझे तो भला-बुरा कुछ नहीं कहा पर जसबीर को लानतें देने लगे। वह उस समय घर पर न थी। “जसबीर पैदा ही क्यों हुई थी ...उन्हें यह दिन दिखाने के लिए” — उन्हें परेशान तो होना ही था।

मैं अपना—सा मुँह लेकर घर आ गई।

पति को जब यह सब बताया तो उन्होंने कहा— “अब तीर वापस कमान में नहीं जा सकता।” अब ‘फेस द म्यूजिक’ ...तुम्हारे इरादे तो नेक थे—यह परिवार तो अब तुम्हें अपना समझने से रहें...।

और साथ में यह भी कहा, जो जसबीर ने ठीक समझा, उसने किया, जो तुमने ठीक समझा, तुमने किया। अब उसका परिवार जो ठीक समझेंगे, करेंगे।

और फिर जसबीर का विवाह हुआ, गुरुद्वारे में। उसके माता-पिता, बहुत कहने पर, शामिल तो हुए—पर पीछे पीछे रहे। मैं अपराधी महसूस करती हुई शामिल हुई। मन ही मन प्रार्थना करती हुई कि यह विवाह सफल हो।

इस सब में, मेरे रोल का पता तो लगना ही था, जसबीर के शेष परिवार को।

जसबीर की बड़ी बहिन ने मेरे मुँह पर साफ-साफ कहा ... “आप की शह न होती तो जसबीर कभी यह कदम नहीं उठाती ...आपको क्या पड़ी थी ?”

शादी के बाद जसबीर अकेले अपने घर जाती रही, मनजीत नहीं आया, क्योंकि उसे आने के लिए, किसी ने कहा ही नहीं।

विवाह के बाद, जसबीर की माँ के घर, मैं दो-तीन महीने नहीं गई। जाती भी किस मुँह से ?

एक दिन, उसकी माँ स्वयं आई, कहने लगी- “...बहिन जी आप तो रास्ता ही भूल गई- मैंने सोचा मिल कर आऊँ। आप का इस सब में क्या दोष ? जब अपने सोने में ही खोट हो... आप आना-जाना न छोड़ें...।”

कभी-कभी किसी विशेष अवसर पर उनसे सामना हो जाता और मैं उनसे नजरें न मिला पाती।

डेढ़-दो वर्ष में जसबीर एक बच्चे की माँ बनी। उसकी माँ ने ही मुझे सूचना दी। वह उसके घर जा रही थी, खूब सारा सामान लेकर, बच्चे के लिए और बेटी के लिए।

और फिर देखते-देखते टूटे रिश्ते जुड़ने लगे...।

अभी, उसी दिन, मैंने उसकी माँ को कहते सुना- “हमारी जसबीर जैसी लड़कियाँ घर-घर में हों।”

परिचय:

रमा जोशी का जन्म पंजाब के चंडीगढ़ में हुआ। इन्होंने पंजाब यूनिवर्सिटी से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. की डिग्री हासिल की। सन 1968 से आप इंग्लैंड में रह रही हैं। इन्होंने बर्मिंघम यूनिवर्सिटी से सोशियोलॉजी में एम.ए. किया और अंग्रेजी की प्राध्यापक रहीं। बर्मिंघम, इंग्लैंड के शिक्षा विभाग में अध्यापक प्रशिक्षण में संस्थापक के बाद सीनियर लेक्चरर के पद से सेवा अब निवृत्त हैं।

विविध सामाजिक कार्यों में सक्रिय : रमा जोशी जी ने व्यवसायी महिलाओं की एक संस्था ‘जागो’ स्थापित किया और दस वर्ष उसका नेतृत्व किया। महिलाओं की एक और संस्था ‘इंडियन लेडिज क्लब’ में चार दशकों से सक्रिय हैं। विविध औपचारिक पदों पर सदस्यता जारी। इसके अनन्तर कई पुस्तिकाओं ‘एशियन विमेन इन ब्रिटेन’, ‘होप्स एंड फिअर्ज’, ‘स्ट्रगल एंड सक्सेस इन यूके’ का संपादन किया।

सम्मान: इंग्लैंड वेस्ट मिडलैंड्स, 1973 में पहली एशियाई मैजिस्ट्रेट की नियुक्ति। इस पद पर 36 वर्ष काम किया। आऊट स्टैंडिंग कम्यूनिटी अवार्ड, भारतीय दूतावास लंदन। ‘तुम्हारे लिए, तुम्हारे बिना’ (कविता संग्रह) के लिए डॉक्टर लक्ष्मीमल्ल सिंघवी पुरस्कार से सम्मानित।

प्रकाशित कृतियाँ: ‘सरदारनी बेगम’ (कहानी संग्रह), ‘तुम्हारे लिए, तुम्हारे बिना’, ‘धूप और छाँव’ (कविता संग्रह)। एक कविता संग्रह ‘काव्य तरंग’ में सह-संपादिका। विविध विदेशी और भारतीय पत्रिकाओं में कविता और कहानियाँ प्रकाशित। हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लेखन कार्य।

संपर्क: 17, द वेल, स्पार्क हिल, बर्मिंघम-B11 4EN, Mo. 0044 01214492235

Email: ramajoshi17@gmail.com

सामाजिक ढांचा: संवेदनात्मक संबंध

विमल वर्मा

आजकल सभी दिशाओं से बंधन और मुक्ति के सम्मिलित विरोधाभासों में छटपटाते हुए जीना हमारी विवशता है। संक्रमण और विपर्यय के द्वंद्वीय आघातों के बीच गतिमान काल को अर्थ देने तथा द्वंद्वों से उत्पन्न संघर्षमयी परिस्थितियों को तमाम जटिलताओं सहित संश्लिष्ट प्रक्रिया को धर्मरूपी संरचना में संवेदित करना रचनाशीलता के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। तभी इस प्रगटन में पाठकों को भी ज्ञानात्मक संवेदन होगा कि तत्त्वमीमांसीय प्रश्न क्यों और कैसे ज्ञानमीमांसीय प्रश्न बन जाते हैं।

उमेश पंकज का 'एक धरती मेरे अंदर' काव्य संकलन की काव्यलयता अंतर्जगत की संरचनात्मक जटिलता में न होकर सरलता की नाटकीयता में है। यहाँ प्रत्येक भाषिक संकेत में आशय एवं अर्थ है। उदाहरण के लिए 'चिड़िया' शीर्षक कविता में संवेदनात्मक इकाई भाषा में प्रतीक का रूप ग्रहण कर भाषा बनती है। यही उसकी अर्थ-प्रक्रिया है।

'शब्द' कविता में शब्द प्रकल्प (प्रक्षेप, कल्पन, प्रोजेक्शन) का आत्मगत अवग्रहण ऐतिहासिक सत्य से समीकृत होकर कृति के भावनात्मक उत्कर्ष में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। 'उद्वेलन का तीव्र प्रकल्प/सिहरन है मन में/ बंद है जबान' सभी पद एक ओर जहाँ अनुभूतियों, मूल्यों की विविधता को नकारते हैं, वहीं आगे- "शेल्फ में रखी किताबों से निकलकर/मुस्तैद सैनिक की तरह/ ताप बची हुई है उनमें... पेड़ के पत्तों से झर जायेंगे आंसू/ चिड़ियां अपने पंख फैलायेंगी/ कलरव से गूंज उठेगा आसमान/" यहाँ मूल रूपक प्रत्यय की तरह उद्भाषित हुआ है। रूपक का प्रयोग हमारे समय, परिवेश, वर्तमान गति के स्वरूप को व्यंजित और ध्वनित करता है।

'विश्वास' कविता में संकल्प की दृढ़ता और उसे तोड़ने की प्रक्रिया में जो आत्मद्वंद्व है वह आत्मसंघर्ष की सांकेतिक प्रक्रिया मानो कवि का सक्रिय इतिहास है जो संघर्ष की हकीकत से निर्मित हुआ है। यहाँ मुझे आलोचक ब्रुक्स का कथन याद आता है कि 'वह भाषा है जिसके ध्वन्यार्थ का उतना ही महत्व है जितना वाच्यार्थ का।'

"बीच सभा में" 'मगर मुझे नहीं सुनाई पड़ रही थी/ मेरी चीख'। यहाँ अनुभूति-प्रक्रिया शुद्ध भौतिक-प्रक्रिया है। मनुष्य जब अपनी ही दृष्टि में अपने को पराई वास्तविकता महसूस करे तो यह भयावह यातनापूर्ण साक्षात्कार की प्रक्रिया-प्रतिक्रिया का रूप है। 'बर में सर का बरधू/ घबराई हुई बदहवास चिड़िया का चीखना तथा जिंदाबाद के नारे।' का संकेत है कि वे अपने को पराया नहीं होने देना चाहते। यहीं से कविता में आत्मसंघर्ष शुरू होता है। कृति के आंतरिक तर्क में अंतर्विरोधों की विविधताओं के अनेक स्तर विभिन्न भावों के आंतरिक संरचनात्मक संबंध जिन

समकालीन स्तरों से अपना संबंध निर्धारित करते हैं। वहाँ चेतनावಾದियों की तरह कारणत्व की उल्टी व्याख्या नहीं है। यहां हर अनुभव का निश्चित परिवृत्त है। विचारों, वस्तुस्थितियों, संबंधों का ढांचा है। ऐतिहासिकता समुत्पाद्य होती है। 'चीख' को यातना के ऐतिहासिक संदर्भ में शब्द और प्रतीक, वस्तु और विचार, दृश्य और संकेत के अन्तर्लय में समझा जा सकता है।

इस प्रकार उक्त ऐतिहासिक प्रकरण में क्रिया-अन्तर्क्रिया के रचाव में व्यवस्थित दृष्टि के द्वंद्वात्मक वैचारिक रचाव में जो भाव-स्वरूप है। उसमें गहरे आत्मसंघर्ष की सक्रिय आस्था और आंतरिकता की धारणाएँ दोनों साथ-साथ व्यंजित हुई हैं।

जाहिर है कि सन् ६० के बाद सार्त्र ने भी स्वीकार कर लिया कि 'इतिहास के प्रश्न आधिभौतिक हल नहीं किए जा सकते।' 'उमेश पंकज' की आत्मपूर्ण संरचना का संघर्ष अपने व्यवहार के साथ तात्कालिकता के जिन अनुभव सापेक्ष रूपों से है, उन्हें समग्र इतिहास में डालकर सरणियों की प्रवर्गों पर ध्यान देना पड़ेगा। लूकाच के अनुसार, "परिप्रेक्ष्य की हत्या करके कोई रचनात्मक चेतना इतिहास में प्रतिष्ठित नहीं हो सकती।"

इस अवधि के संरचनात्मक चरण के पूर्व नयी कविता को प्रभुत्वशाली स्थितियों में जड़ कर दिया गया था। प्रगतिशील रचनात्मकता को हाशिए पर धकेल दिया गया था। शीतयुद्ध, कल्चरल फ्रीडम की विचारधारा का वर्चस्व था।

"कवि अपने भावात्मक आसंगों सहित परिवेश के अमूर्त संदर्भों को लेकर वातावरण तैयार कर रहा था। चूंकि इस रचनात्मक प्रयत्न के साथ कोई मूर्तगोचर परिवेश संश्लिष्ट नहीं था, इसलिए कवि सिर्फ प्रतीक संदर्भों और संकेतात्मक वातावरण से 'परिवेश' का काम ले रहा था। जैसे- 'अंधायुग' में पीड़ा ध्वनित होती है।... यह पीड़ा किसी व्यापाररत समाज के भीतर की नहीं है।" (सुरेंद्र चौधरी)

"नव स्वाधीन भारत की विकासशील और संघर्षशील परिस्थितियों में अस्तित्ववाद को मोहक बनाने का काम लोहियावाद करता है।" (अजय तिवारी)

डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने लिखा था कि नई कविता में 'यथार्थ के प्रसार के साथ जिस विषयभूमि का प्रसार हुआ था। वह पुनः समाप्त हो गया है और पुनः काव्य विषयों के एक छोटे से दायरे में हम बँधकर रह गये हैं।"

बहरहाल 'नयी कविता' के अवसान के बाद रुका हुआ समय, भागता हुआ समय साथ-साथ चल रहा था परंतु शीतयुद्धवादी कवियों की चिंता का केन्द्र यह नहीं था। इस संक्रमण में ताप-उत्ताप, उद्विग्नताएँ, बहुमुखी संघर्ष खासकर कला के क्षेत्र में, व्यापक जन आंदोलन, सशस्त्र जनसंघर्ष संबंधी विषयों के विभिन्न प्रकार के हस्तक्षेपों के उभार, द्वंद्वात्मक अंतर्सम्बन्धों के पैटर्न, प्रतिबिम्बित हुए। वर्ग-संघर्ष के विभिन्न पक्ष 'विस्फोटों' के सक्रिय टकराहट के माध्यम से रूपायित हुए।

जाहिर है सन् ६० के बाद की कविताओं में भाषा का नया डिक्शन पाठकों की नजर में आया। भाषा की इस नवीनता में व्यवस्था के नये अंतर्विरोधों, मूल्यों के संपूर्ण ध्वंस का साक्षात्कार होता है। आलोचक सुरेन्द्र चौधरी के शब्दों में "आक्रोश इस संभास को मूर्त करता है।"

कहना न होगा कि धूमिल ने इसे अत्यन्त नाटकीय बना डाला। उन्हीं की निम्न पंक्तियाँ गौर फरमाने लायक हैं। "आदमी टकराता रहेगा सड़कों पर/ छूछे सवालियों/ गालियाँ यूँ ही भरी रहेंगी गंदे नालों और छिनालों से/ लड़के धड़ों पर, मर्द चूतड़ों पर मरते रहेंगे/ हम कविता करते रहेंगे।" यद्यपि इसका संदर्भ सामाजिक जीवन के भीतरी तनावों की प्रतिध्वनियों से है। लेकिन यह काव्य विवेक व्यवस्था के विरोध में- दो छोरों पर तनावपूर्ण संधि रेखा पर पाठकों को खड़ा कर देता है। लेकिन यदि विचारधारा के निर्माण की ऐतिहासिक परिस्थितियों के विस्तार पर विचार करें तो वे विशिष्ट जीवन क्रियाएं आर्थिक क्षेत्र में अलग-अलग रूपों में प्रकट होती हैं। शायद ऐसे ही दृष्टांत हीगेल अनुभव में थे। उनके अनुसार 'विघटित चेतना' जब खुद को पुरानी विश्व व्यवस्था के विघटन की उपज के रूप में पहचानने लगती है, तब अपने विरोधी में बदल जाती है। यह सारे सामाजिक

संबंधों के छद्म और झूठ को समझने लगती है और 'क्रुद्ध चेतना' बन जाती है। 'क्रुद्ध चेतना' से संबंधित हीगेल के ये शब्द लंपट सर्वहारा के संदर्भ में खास महत्व रखते हैं जिसका व्यापक अस्तित्व, मध्ययुग के अंत के बाद धर्म-निरपेक्ष जागरूक सर्वहारा का व्यापक उदय होने से पहले दिखाई पड़ा। खास तौर पर ऐसी मनोवृत्ति उन्नीसवीं सदी के सर्वहारा में खूब थी। ...बहरहाल सर्वहारा तब तक मुक्त नहीं हो सकता, जब तक अपने अस्तित्व की इन परिस्थितियों का अंत नहीं कर देता।" (मिखाइल लिफशित्ज- कार्ल मार्क्स का कला दर्शन)

परंतु कालांतर में धूमिल ने जो कविताएँ लिखीं उन पर परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा- "शुद्ध कविता के विरुद्ध प्रतिबद्ध कविता का जो दर्शन सामने आया, उसकी पहचान जिन कवियों के आधार पर बनी, उनमें धूमिल प्रमुख थे।"

धूमिल की कविता में आत्मद्वंद्व और आत्मसंघर्ष भी है। यही उनके रचना विधान को विशिष्ट बना देता है। "मैं झेंपता हूँ/ और धूमिल होने से बचने लगता हूँ/ यानी बाहर का 'दुर-दुर' और भीतर का 'बिल-बिल' होने से/ बचने लगता हूँ।"

इसके पहले कि मैं उमेश पंकज के काव्य संग्रह पर लौटूँ। कुमारेन्द्र की स्मृति आवश्यक है। यहाँ मैं उन पर विस्तार में नहीं जाऊंगा। केवल संकेत में इतना ही कहूँगा कि "उनकी काव्य कला में श्रम और सौंदर्य का अनोखा रिश्ता है। यह रिश्ता वास्तव में प्रगतिशील आंदोलन के बाद खोजे जाने की जरूरत है। इस दौर में उस रिश्ते को खोजने वाले कवियों में कुमारेन्द्र एक हैं।" (अजय तिवारी)

"कुमारेन्द्र परसेप्शन के कवि हैं।" - डॉ. आनंद प्रकाश इसी संदर्भ में विकास-चेतना-क्रम में नक्सलबाड़ी आंदोलन का व्यापक प्रभाव उमेश पंकज की काव्य-चेतना में परिलक्षित होता है। इन कविताओं में उत्पीड़ित जीवन का चित्र दृश्यायित है। साथ-ही-साथ इनमें विकसित सामाजिक चेतना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और गतिविधियों में रूपांतरणशील कौंध चमकती हुई सिरहन और उमंग दोनों पैदा करती हैं।

'जंगल खत्म नहीं होते' में पीड़ा का संदर्भ आंतरिक संवेग में भाव-संवेदन और क्रियात्मक वैचारिकता द्वारा उदाहृत होता है। इसी में 'मल्लाह', 'रूकूंगा नहीं', 'बचा रहूँगा', 'लड़ाई', 'रोटियां पहे में', 'उठो साथी' इत्यादि कविताएँ क्रांतिकारी संकल्प बुनती है। परंतु यहाँ पाठक की चेतना में यह क्रांतिकारी रोमैटिसिज्म है। यानी 'सस्पेंशन ऑफ डिसविलीब'।

कवि ने सामाजिक जीवन के भीतरी तनावों को, अनुभव रूपों में लयबद्ध कर विचारधारा के अन्तर्य से 'चिड़िया' की प्रतीकात्मकता में जनता की सक्रियता और उसके हस्तक्षेप से नयी जनतांत्रिक धारा का उत्सर्जन किया है।

स्थापत्य की दृष्टि से 'मेहतर' कविता में समय की प्रवृत्ति और कवि की संवेदना पाठक को यथार्थ में निहित अनेक अंतर्विरोधी पहलुओं की परस्पर स्थिति पर ध्यान आकर्षित करने के लिए संकेतित करती है। कुछ कुलीन अभिजात्य पाठकों को 'मेहतर' और 'कचरा' शब्द उनके सौन्दर्याभिरुचि को अटपटा लग सकता है। परंतु ये शब्द जिस प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं वे जनता के साथ अपने अन्तर्विरोधों को पहचानने, उन प्रवृत्तियों से संघर्ष करने को प्रेरित करते हैं। मुख्यतः जड़ता की निरंतरता में। उदाहरण के लिए मैं नागार्जुन को उद्धृत करूँगा। उन्होंने 'पुरानी जूतियों का कोरस' कविता लिखी। उस पर सवाल पूछे जाने पर उन्होंने उत्तर दिया- "जो राजनीति जनता को जूते तले रौंद रही हो, उसे पहचानने के लिए जूतों पर ध्यान केन्द्रित करना गहरी काव्यात्मक दृष्टि का परिचायक है।"

"क्रांतिधर्मा" कविता की मूल स्रोत गति है। सक्रियन है। उसके विकास में द्वंद्ववाद है। इस कविता में जिस मनोविज्ञान का गठन होता है वह बाह्य भौतिक राजनीतिक वातावरण की पहेली है। यह वातावरण वस्तुनिष्ठ यथार्थ की प्रक्रिया से रूपांतरण की एक दृष्टि रचता है। मार्क्स ने 'पूँजी' के दूसरे खंड के परिशिष्ट में लिखा है- "भौतिक संसार मानव मस्तिष्क में प्रतिष्ठित होता है और चिंतन के रूपों में बदल जाता है।"

“उन्मादी भीड़” का सम्प्रेषित सत्य मानो आज की प्रभुत्वशाली संस्कृति का आत्मदर्शन है। जैसे यह एक ऐतिहासिक प्रकरण है। वह यह कि पाठक गंभीरता से सोचें कि समाज जिन रूपांतरण से गुजर रहा है, वहाँ नागरिक स्वतंत्रता का निषेध है। (जिन्हें जीवन स्थितियों, क्रियाकलापों के बीच उठाया गया है) इन स्थितियों के माध्यम से पाठक के मन में जिस विशेष प्रकार की आकृति बन रही है, वह आकृति ही बिम्ब है। इन बिंबों की भाषा मात्र मानसिक क्रिया नहीं है। इनका भौतिक क्रियाओं से गहरा रिश्ता है। यह रिश्ता संवेदना के ढांचे में हारर क्रिएट करता है।

‘बचा रहूँगा’ कविता एक स्वगत संलाप है। कवि अपने बहाने समाज को संबोधित कर रहा है। हर भावना की अपनी भाषा होती है। जिससे वह रचनाकार से बातें करती है। ‘दबा लूँगा सारा जहर जाति धर्म का’ ‘मरूँगा नहीं बचा रहूँगा बैलों के साथ’ ‘दौड़ता रहूँगा खेतों में’ इसी तरह ‘बात चल रही है’ के तरह भाव संसार का जो रूप है। सर्जक चेतना को काल के साथ जुड़ कर बना है। उसमें संघर्ष, तनाव, टूटन की अन्तर्धारा वाला जो परिवेश है, उसके परिवर्तन के लिए मेहनतकश के जनजीवन के दृष्टिकोण से परिस्थितियों, संबंधों के बदलाव की सशक्त भावधारा कार्य करती है।

एकालाप में परिवेश रचनाकार के व्यक्तिमन में कैसे केन्द्रित होता है। व्यक्तिमन के संस्कार पर ही उस परिवेश का संस्कार निर्भर होता है। यह स्थिति “हूँ क्या” में व्यक्त होती है। इस कविता में कवि का संस्कार उसे नियंत्रित, परिसीमित और परिभाषित करता है। ‘जमीन पर पैर रखते ही लगता है चल रहा है आसमान साथ-साथ/...पसीना टपकता है तो लगता है पानी है/’ यहाँ उमेश पंकज ने परस्पर विरोधी सामान्य घटनाओं, क्रियाओं को इस जक्स्टापोज़ किया है कि वे नए अर्थ संधान की परिणति तक जा पहुँचते हैं। विश्चर ने रचना की सौन्दर्यात्मकता को परिभाषित करते हुए लिखा है, “सौन्दर्य एक साथ ही एक वस्तु है, एक मनोदशा भी। जब हम

इसका मूल्यांकन करते हैं उस समय यह एक रूप होता है। जब हम महसूस करते हैं तब यह जीवन होता है। हमारे अस्तित्व की एक अवस्था है। हमारी रचना भी।” ‘हूँ क्या’ कविता जीवन के जटिल संबंधों की प्रक्रिया की दृष्टि से पठन की मांग करती है।

‘काले कौवे’, ‘घास हूँ मैं’, ‘जश्न’, ‘यदि तुम चाहो’ आदि कविताएँ मानसिक संरचनाएँ हैं। ये समूचे समवेत समूह के यथार्थ को समकालीनता के अंतर्द्वंद्व को मूर्त रूपात्मकता में (जिस रूपात्मकता में वे परिस्थितियाँ भी यथार्थ हैं जो हास और विकास का कारण बनती हैं) वर्ग संरचना की विविधताओं को, निश्चित संबंधों की अभिव्यक्तियों के रूप में एक निश्चित विचारधारात्मक प्रणाली की भूमिका की समझ विकसित होती है।

‘क्या साहब तानाशाह है?’ कविता में कृति को ज्ञानात्मक मूल्य के रूप में समझाया जा सकता है। यथार्थवाद में इस तरह की ऐतिहासिकता व्यक्त करने के लिए कला-प्रक्रिया को व्यवहार के अकल से अलग करके नहीं देखा जा सकता। पृथक्कीकरण और संश्लेषीकरण में अभिव्यंजना के रूप ‘तथ्यों’ के गति और प्रक्रिया में समझा जाता है। तानाशाह के रूप में सत्ता की प्रकृति, गतिशीलता प्रत्येक इकाई में अलग-अलग कार्य करती है। इस प्रक्रिया में वह परस्पर सम्बद्ध होती है।

इस कविता के माध्यम से शक्ति की गति से उत्पन्न बोध को कवि ने प्रतिष्ठा दी है। उमेश पंकज की रचनाशीलता की विशेषता यह है कि वे सृजनात्मकता को तनाव की स्थिति में रखकर प्रवाह को नए मोड़ पर पहुँचने, पहुँचाने की ओर इंगित करते हैं।

इस संकलन में विचारधारा के सवाल को व्यवहार के सवाल से अलग कर के देखा नहीं जा सकता। विज्ञान परिस्थितियों का सैद्धांतिक ज्ञान देता है। कला उन परिस्थितियों का अनुभव कराती है। जैसे ‘समय की पीठ पर’ का पाठ यह प्रक्रिया प्रगट करती है कि यहाँ वातावरण के अंदर चेतना और इतिहास को रचने की चेष्टा की गयी है।

कवि का संघर्ष जीवन और उसकी विडंबना है। उमेश उन्हें जटिल रागात्मक संघर्षों के परिपार्श्व में रखकर संवेदना के नए कोण उभारते हैं। 'जादूगर' कविता में व्यवस्था का संकट और मनुष्य की स्थिति को अपनी चिंताओं से जोड़कर आज के संसार को निर्मित किया गया है। इस कविता में अर्थ और संकेत भावनाओं और विचारों के प्रतीक हैं। 'जादूगर' में पाठक गोचर पदार्थों के साथ प्रत्यक्ष संबंध नहीं बना पाते। परंतु कवि अमूर्त भावों के लिए मूर्त उपादान का प्रयोग करता है। कविता का ढांचा जिस बोध से बनता है वे घटना और प्रसंग के दृश्य स्तर के मूल में वर्तमान है। यहां विमर्श में सत्ता और समाज की शोषणकारी रूपों की आलोचना द्वारा मानव मुक्ति चेतना और इतिहास के अर्थ पाने में पाठक को संश्लेषण तथा विश्लेषण दोनों प्रक्रियाओं का सहारा लेना पड़ता है। लगता है कविता में परिवेश परिस्थिति समाज के भीतर की दुनिया के हाहाकार का कोलाहल है। पाठक जब रचनात्मक मानस की हलचल में प्रवेश करता है तो तनाव की गतिकी में यातना के स्तर पर मानसिक वातावरण का अंग बन कर, वस्तुओं के निहितार्थों में वृहत्तर वास्तविकता की संवेदना बनकर प्रतिकार के धुंधलके में अनिश्चयता से, आत्मविडम्बना अभिव्यंजक बन जाती है। यहाँ पाठक की संवेदना यथार्थ में निहित अनेक अंतर्विरोधी पहलुओं की परस्पर स्थिति काल क्रमिकता में, उत्पीड़न को लौकिक दशाएँ समस्त द्वंद्वशील संबंधों के साथ जीवन के चरितार्थ की दृष्टि बन जाती है।

वित्तीय पूंजी और उन्मुक्त बाजारवाद ने मनुष्य को चित्तविक्षेपी, खंडमनस्क, सन्निपातिक बना दिया है। प्रभाव के नकारात्मकों या नकारात्मक प्रभावों की उत्तराधुनिक वैचारिकी में कुछ लोग आत्ममुग्ध और कुछ लोग लहलुहान हैं। नए प्राग्मेटिज्म की यह रणनीति रचना की पहचान के सिलसिले में द्विधाजनक मानसिकता तैयार कर रही है।

याद आता है वियतनाम युद्ध। उस विश्व-परिवेश में जीवन-मूल्यों के टकराहट ने रचना और संघर्ष के व्यावहारिक रिश्ते को निर्णायक बना दिया गया। सत्ता

विषयक ज्ञान में उथल-पुथल का वह दृश्य साम्राज्यवाद, पूंजीवाद के लिए इस चुनौती ने आत्मरक्षा संबंधी रणनीति के तहत शीत युद्ध की मुहिम तेज की। वियतनाम संघर्ष की प्रक्रिया ने हमारे आवेगों, प्रतिक्रियाओं अभिव्यक्ति को बदलना शुरू किया। अतएव साम्राज्यवादी रणनीतिज्ञों ने वैचारिक रणकौशल में परिवर्तन किये। मुझे 'इनकाउन्टर' प्रयिका याद आती है। चूंकि मार्क्सवादी दार्शनिक तत्त्वमीमांसीय विचारधारा मुक्ति और स्वतंत्रता की परियोजना के साधन के रूप में दर्शन को परिभाषित एवं पुनर्परिभाषित कर रहे थे। अतएव शीतयुद्ध की रणनीति में मार्क्सवाद का विरोध करने के लिए विधि की परिकल्पना, वास्तविकता और संभावना, अनिवार्यता और आकस्मिकता, इतिहास और स्वतंत्रता की मानवमुक्ति संबंधी भूमिका को नकारात्मक सिद्ध करके मार्क्सवाद को अपदस्थ करने का अभियान तेज हुआ।

छठवें दशक में अस्तित्ववाद को लेकर सार्त्र के 'बीइंग और नचिंगनेस, हाइडेगर का डासमैन (भीड़ का आदमी)' यिंकीगार्द एवं यास्पर्स का वर्ल्डनाइट बीसवीं सदी में बर्जुआजी का फैशन बन गया। मनुष्य की कल्पित मूर्ति गढ़ी गयी। शायद उसी के विरोध में 'अस्मिता के संकट' कविता का पाठ किया जाना चाहिए। उमेश पंकज ने 'धूल मिट्टी', "मिट्टी में हैं जड़ें पेड़ की/...जब कभी मिट्टी ने ढीली की है जड़ों की पकड़/ पेड़हुए हैं/पेड़ मिट्टी बन जाते हैं/...मैं उसी मिट्टी को मलवा हूँ/ ...महसूस करता हूँ अपने अंदर एक पेड़/...टल जाता है अस्मिता का संकट..." कवि ने व्यक्ति और समाज के संबंधों को परिभाषित करते हुए व्यक्ति को परिवर्तन के अनुभव से जोड़ा है।

अस्तित्ववादी विषय और विषयी के संबंध को ज्ञान का संबंध नहीं मानते। वे ज्ञान को, सार्वभौमता को, मनुष्य के पारम्परिक संबंधों को, समय के भौतिक स्वरूप को, ऐतिहासिक परिस्थिति को 'अनिश्चित और असीमित मानवीय त्रासों में तथा स्वतंत्र व्यक्ति निर्णयों' में बदल लेते हैं। इतिहास में अनिवार्यता और सार्थकता के बारे में

एण्टीड्यूरिंग में लिखा गया है कि अज्ञान पर आधारित अनिश्चितता जो भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा परस्पर विरोधी सम्भव निर्णयों में से किसी एक को मनमाने ढंग से चुनती प्रतीत होती है।

ऑरोलेफ्रेव के अनुसार, “सामाजिक सरबन्द प्रत्यय की तरह अस्तित्ववान नहीं होते... इनका भौतिक आधार होता है जैसे उत्पादन की शक्तियाँ, उनके हथियार यंत्र, उनका कार्य संयोजन आदि।”

पोलित्जर ने सार्त्र की आलोचना करते हुए लिखा है— “अपनी नैतिक सादिच्छा के बावजूद सार्त्र का दर्शन इतिहास के जीवित संदर्भ में अधूरा ही नहीं पड़ता बल्कि एक अर्थ में इतिहास विरोधी भी है।”

कालांतर में सार्त्र ने स्वयं स्वीकार किया कि

१. अगर मनुष्य वस्तुतः स्वतंत्र है तो उसकी वस्तुबद्धता कोई समस्या नहीं है।

२. अगर आदमी अपनी सत्ता में वस्तुजगत से बाँधा है तो उसकी स्वतंत्रता की समस्या केवल आत्मनिर्णय की समस्या नहीं रह जाती।”

स्वयं अस्तित्ववादियों ने मनुष्य को अप्रमाणिक बनाने के बारे में मनुष्य के कल्पित अमूर्तता का जो विराट दर्शन खड़ा किया। उसका उत्तर ‘अस्मिता के संकट’ में पाठक पा जाते हैं।

एंगेल्स ने अंतर्विरोधों पर लिखते हुए ‘निषेध के निषेध’ की व्याख्या करते हुए रूपांतरण के बारे में एक उदाहरण दिया है कि जब गेहूँ का एक दाना मिट्टी में बोया जाता है

तो वह सड़ जाता है। उसका रूपांतरण होता है। उस दाने से अंकुर निकलता है और वह पेड़ बन जाता है। एक दाना असंख्य गेहूँ का दाना बन जाता है। इसी प्रकार रूपांतरण और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया को समझना चाहिए। तब अस्मिता का संकट खत्म हो जाता है। कविता में जमीन, धूल, पेड़, पत्तियाँ, फुनगियां कवि की संवेदनशीलतायें आत्मचेतना में ये प्रतीकात्मक महत्त्व रखते हैं।

जीवन और प्रकृति के संदर्भ में यह धारणाशीलता सामाजिक शक्तियों के विकास तथा दर्शन के विकास को सामाजिक उत्पादन पद्धति से जोड़कर देखने की आवश्यकता है। डॉ. सुधा चौधरी ने भी लिखा है— “अपनी विशालता में दर्शन प्रकृति, समाज और विचार के मूल में पाये जाने वाले वस्तुगत नियमों का अध्ययन करता है। जो तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय और नीतिमीमांसीय विमर्श में मूर्त रूप लेता है। ...मुक्ति कभी किसी को अकेले में नहीं मिलती... वह सामाजिक होती है। मुक्ति वह अवस्था है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति जीवन जगत को नियंत्रित करने वाले सामाजिक नियमों को अपनी स्वतंत्र इच्छा से बरत पाने में सक्षम होता है। इस प्रकार यह कविता पाठकों को सत्ता संबंधों की ऐतिहासिक द्वंद्वत्मकता की ओर ले जाती है।

समीक्ष्य कृति: ‘एक धरती मेरे अंदर’ (आलोचना)

लेखक : उमेश पंकज

समीक्षक : विमल वर्मा

प्रकाशन : लोकोदय प्रा. लि., ६५/४४ शंकरपुरी रोड लखनऊ-२२६००, **मूल्य :** ५० रुपये

संपर्क : एच/१३, एल. आई. जी. इस्टेट, ८/१, रुस्तम जी पारसी रोड काशीपुर, कोलकाता- ७००००२, मो. ९०३८३४०५६८

‘अपनी गठरी’ के अनमोल रत्न

डॉ. प्रकाश कुमार अग्रवाल

कवियों का सुदृढ़ समाज और देश के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। सिर्फ भाषा और छंद गढ़ने से कोई कवि नहीं बनता। कवि का काम लोगों में समसामयिक परिस्थितियों का ज्ञान कराना तथा नई चेतना भरना होता है। यही कारण है कि कवि-कर्म बहुत कठिन होता है। डॉ. पंकज साहा ने कहा भी है, “लेखन की शुरुआत मैंने कविता से ही की थी, पर जैसे-जैसे कविता की समझ विकसित होती गई, यह बात भी समझ में आने लगी कि कवि-कर्म बहुत आसान नहीं है।” साहा जी जानते हैं कि कवियों का दायरा और दायित्व कितना बड़ा होता है। उसकी दृष्टि कितनी व्यापक होती है। उसका उद्देश्य समष्टि का कल्याण करना होता है। साहा जी की ‘अपनी गठरी’ काव्य-संग्रह इस दृष्टि से एक सफल काव्य संग्रह है। इस काव्य-संग्रह में साहा जी ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विषयों को अत्यंत सजगता से अपने काव्यनुमा अंदाज में उठाने की कोशिश की है। इस काव्य-संग्रह की कविता ‘अपनी गठरी’ में वे कहते भी हैं—

“चाहे कोई उपहास करे,/चाहे कोई मारे लंगड़ी।/जीवन-दौड़ में जीत उसी की/जिसने सच की राह न छोड़ी।”

इस काव्य-संग्रह में ८० कविताएँ हैं। हर कविता साहा जी की लेखनी से निकली यथार्थ की अभिव्यक्ति है। संकलन की पहली कविता ही महान संत एवं समाज सुधारक कबीर से शुरू होती है। इस कविता में साहा जी ने कबीर को शत-शत नमन किया है, क्योंकि कबीर ने अंधकार में भटकते भेड़ों (मानव जाति) को रोशनी (ज्ञान) की लकीर दिखाई है। साहा जी की विचारधारा लीक से हटकर है। यही कारण है कि वे बदलाव के पक्षधर हैं। वे अपनी ‘नया पाठ’, और ‘प्रश्न’ कविताओं में विद्यार्थियों को नई शिक्षा देने के पक्षधर हैं। इनका मानना है कि आज अगर समाज में बदलाव लाना है, तो ‘अ’ से अनाज, ‘आ’ से आवाज, ‘क’ से क्रांति और ‘म’ से मुक्ति का पाठ पढ़ना होगा।

आज के इस भूमंडलीकरण के दौर में यदि सबसे अधिक क्षति किसी को हुई है, तो हमारी संस्कृति को। आज के इस बाजारवाद के दौर में बच्चों का बचपन छिनता जा रहा है। पहले जो बच्चे उन्मुक्त आकाश में विचरण करते थे, वे आज बस्तों का भारी बोझ उठाकर पस्त हैं। यही कारण है कि साहा जी ‘हमारी संस्कृति’ कविता में लिखते हैं—

‘बचपन की उम्र/ घट रही है/हमारी संस्कृति/ जंगल के पेड़ की तरह /कट रही है।’

साहा जी गुटबाजी के खिलाफ हैं। इनका मानना है कि आज सर्वत्र इसका प्रभाव देखने को मिलता है। गुटबाजों के अपने मठ हैं। गुटबाज इन मठों द्वारा मनचाहा फल प्राप्त करते हैं। चाहे उनके कहन में कूड़ा-करकट ही क्यों न हो। अपनी ‘जो वे कह दें कूड़ा-करकट’ नामक कविता में साहा जी ने इसी यथार्थ को दर्शाया है। आज के इस उत्तर आधुनिक युग में साहा जी निरंतर क्षीण होते पारिवारिक संबंधों से आहत हैं। परिवारों में बुजुर्गों की अनदेखी आज के समाज की सचाई

है। यही कारण है कि साहा जी अपनी 'जरूरत' नामक कविता में परिवार में, बुजुर्गों की उपस्थिति की अनिवार्यता को दर्शाने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं—

“उत्तर आधुनिक मुखौटा/ और चंचल पैसों की/ पोशाक पहनकर जहाँ/ आदमी बेमुरव्वत है / वहाँ ऐसे बूढ़ों की/ बहुत जरूरत है।”

‘अंधड़ में संविधान’ नामक कविता में साहा जी ने संविधान की तुलना उस फकीर से की है, जो सिर्फ कुत्तों (अपराधियों और असामाजिक तत्वों) को आँखें दिखाने का काम ही कर सकता है, लेकिन इन कुत्तों के खिलाफ कोई ठोस कदम नहीं उठा सकता। निरंतर क्षीण होती मानवीय संवेदनाओं से साहाजी अत्यंत आहत हैं। वे लिखते हैं आज मनुष्य इतना अधिक असंवेदनशील हो गया है कि वह मृत्यु को भी रंग देने से बाज नहीं आता। इसका प्रभाव यह पड़ता है कि संवेदना की मौत हो जाती है, जबकि मनुष्य की पहचान ही संवेदनाओं से है। ये संवेदनाएँ ही उसे इस सृष्टि का सबसे महान प्राणी बनाती हैं। पर दुख कातरता ही मनुष्य की पहचान है। ‘हमारी संवेदनाएँ’ नामक कविता में साहा जी ने इसी तथ्य को उजागर किया है।

आज के अधिकांश साहित्यकार साहित्य के नाम पर कूड़ा-करकट लिख रहे हैं। वे समसामयिक विषयों से अछूते नजर आते हैं। उनका काम सिर्फ अपने साहित्य की वृद्धि करना है। समाज को उस साहित्य से क्या मिला इसकी उसे तनिक भी परवाह और चिंता नहीं है। इसी कारण साहा जी ने ‘साहित्य और साहित्यकार’ नामक कविता में साहित्य की तुलना सागर और साहित्यकार की तुलना ‘नदी’ से कर बताया है कि—

‘नदी का काम केवल/ सागर भरना ही नहीं/ प्यास बुझाना भी है।’

साहाजी अपनी ‘गाँव और शहर’ कविता में ग्रामीण लोगों और शहरी लोगों के बीच के पार्थक्य को बताया है। गाँव के लोग शहरी लोगों की तुलना में ज्यादा आत्मीय होते हैं। उनका दिल निश्छल होता है; वे मिलनसार होते

हैं, वहीं शहरी लोगों में धूर्तता और छल-कपट बढ़ता जा रहा है। शहरी लोगों की अपने को शरीफ और दूसरे को चोर कहने की फितरत हो गई है। ‘चाँद! सच बतलाना’ साहा जी की एक व्यंग्यात्मक कविता है। इस कविता में साहा जी ने चाँद के माध्यम से संसद और खद्दरधारियों पर व्यंग्य किया है। इस कविता में साहा जी कहते हैं कि जिस प्रकार चाँद शांत भाव से सब विसंगतियों और घटनाओं को निहारता और मुस्कुराता रहता है, उसी प्रकार हमारे देश की संसद एवं खद्दरधारी भी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि विसंगतियों को देखकर भी चुप्पी साध लेते हैं। वे खुलकर इन विसंगतियों का विरोध नहीं कर पाते हैं, बस चांद की तरह मुस्कुराने की अदा सीख लेते हैं। ‘कुछ बात है’ कविता में भी साहा जी ने खद्दरधारियों पर कटाक्ष किया है। साहा जी लिखते हैं—

‘पर खद्दरधारियों की आँखों से/ टपक रही मक्कारी उनका चेहरा मानों कह रहा है—

कुछ बात है कि/ हस्ती मिटती नहीं हमारी।’

आज का मनुष्य इतना स्वार्थी और संवेदना विहीन हो गया है कि वह रिश्तों का सम्मान करना भी भूल गया है। माँ, बाप, भाई, बहन जैसे बड़े एवं पवित्र रिश्ते भी उसके लिए बेमानी हैं। मृत्यु जैसी बड़ी घटना पर भी परिवार के सदस्यों की असंवेदनशीलता एवं लालच का अत्यंत मर्मभेदी चित्र साहाजी ने अपनी ‘शोक’ कविता में खींचा है, जहाँ पिता की मृत्यु के पश्चात उनके बेटों में संपत्ति को लेकर झगड़े शुरू हो जाते हैं। पिता की लाश एक ओर पड़ी रहती है और बेटे संपत्ति के बँटवारे के लिए आपस में झगड़ रहे हैं, वे इस चिंता में मरे जा रहे हैं कि दाह-कर्म का खर्चा कौन उठाएगा ? रिश्तों की हत्या का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्रण निश्चय ही आज की पारिवारिक व्यवस्था पर चोट करता है। ऐसे अनगिनत साहित्यकार हैं, जो अपना कर्तव्य भूलकर सिर्फ चाटूकारिता करते और अपना राग अलापते नजर आते हैं। ऐसे लोग वाणी के छल से कविता लिखते हैं। जनता के कष्टों से सरोकार न रखने वाले ये साहित्यकार सिर्फ अपना उल्लू सीधा करते नजर आते हैं। ‘शब्दों के

जादूगर' नामक कविता में साहा जी ने इन्हीं तथाकथित साहित्यकारों पर अपनी लेखनी चलाई है। अपनी कविता में साहाजी ने उस विडंबना की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जहाँ एक पढ़ा-लिखा बेरोजगार कवि-हृदय लिए काबिलियत के बावजूद रोजगार के लिए दर-दर भटक रहा है, वहीं उसका कोई साथी पैसे देकर, तो कोई सिफारिश-जुगाड़ लगाकर नौकरी प्राप्त कर लेता है। इसे देखकर साहा जी समाज और देश से यह प्रश्न करते हैं कि वह बेरोजगार किसके द्वारा छला गया? 'अपनी अभिशाप या वरदान' नामक कविता में भी साहा जी ने इसी विडंबना की ओर इशारा किया है, जहाँ एक दुर्घटना से दोनों पैर गंवा चुका बेरोजगार युवक इसलिए खुश है कि उसकी इसी विकलांगता में उसे रोजगार का अवसर दिखाई दे रहा है।

जनता की आवाज आज मर चुकी है। वह आज इंकलाब जिंदाबाद नहीं, बल्कि इंकलाब दाल-भात ही कह सकती है। इस सत्य को साहा जी अपनी कविता 'मरी आवाज' में दर्शाते हैं। 'हिंदी दिवस की आवश्यकता' शीर्षक कविता में साहा जी हिंदी दिवस की प्रासंगिकता पर प्रश्न खड़ा करते हैं। साहा जी का कहना है कि आज व्यक्ति तथा समाज अंग्रेजी भाषा का गुलाम बनता जा रहा है। अंग्रेजी बोलने और लिखने में लोगों को गर्व की अनुभूति होती है, वहीं हिंदी का प्रयोग करने में लोगों को संकोच और हीनता का अनुभव होता है। यही कारण है कि आज हिंदी का विकास जिस तेजी से होना चाहिए था, उतनी तेजी से नहीं हो पा रहा है। जब तक हम दृढ़ संकल्प और ईमानदार मानसिकता के साथ हिंदी के विकास की ओर आगे नहीं बढ़ेंगे, तब-तक हिंदी दिवस का यह खेल जारी रहेगा। अपनी 'माँ' शीर्षक कविता में साहा जी ने माँ की ममतामयी छवि को दिखाया है, जो कभी पिताजी के क्रोध से रक्षा करती है, तो कभी छुपाकर पैसे देती है। यही कारण है कि साहा जी कहते हैं-

'इत्र की खाली शीशी में/ सुगंध जैसी/ मेरे मन में/ बसी है माँ।'

'चंपा अब शहर में रहती है' साहा जी की अत्यंत प्रौढ़ कविता है। इस कविता में साहा जी ने स्त्री-चेतना और जागरूकता का चित्र उपस्थित किया है। यही कारण है कि वे कहते हैं-

'चंपा अब काले अक्षरों/ और काले मन वाले/ सफेद लोगों को/ चिन्हने लगी है।'

मनुष्य आज इतना अधिक आत्म-केंद्रित हो गया है कि उसे अब सगा-संबंधी, पुरानी मित्रता, अतीत के उपकार से कोई सरोकार नहीं है; वह सिर्फ अपने वर्तमान के लाभ की ओर निहारता है। इसलिए साहा जी अपनी कविता 'आज का जीवन' में लिखते हैं-

'ईमानदार को पड़ता है/ अपमान का घूंट पीना।/ असहज हो गया है आज/ सहज होकर जीना।'

'अरसा हो गया' कविता में भी मनुष्य की इसी आत्म-केंद्रीयता को दर्शाया गया है। साहा जी कहते हैं-

'कभी संसार कभी व्यापार में फंसते देखा।

अरसा हो गया आदमी को हंसते देखा।'

'गाँधी तेरे देश में', 'नया संविधान लिखें', 'सबको बहलाए रखिए', 'भाँट सभी बादशाह हो गये', 'विचित्र मंजर', 'चंद सायों ने सूरज को घेरा है', 'कौन-सा मुकाम है', 'चोट खाकर भी मुस्कुराए जाते हैं', 'मैं और तुम' आदि कविताओं में साहा जी ने वर्तमान परिस्थितियों का चित्रण अत्यंत ही शायराना अंदाज में किया है। इन कविताओं में कहीं हास्य तो कहीं व्यंग्य के माध्यम इन्होंने समसामयिक समस्याओं का चित्र खींचा है और उन समस्याओं के चिंतन के लिए लोगों को उत्साहित किया है। 'फर्क', 'नेता', 'सलाह', 'निरामिष दिवस' आदि कविताओं के माध्यम से जहाँ एक ओर साहा जी ने देश के नेताओं की पोल खोली है, तो वहीं 'चुनाव' कविता में चुनावी हथकंडे को दिखाया गया है। 'अनशन समारोह' कविता में साहा जी ने वर्तमान समय में अनशन के नाम पर हो रहे दिखावे की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और यह बताने का प्रयास किया है कि यह आज 'अनशन फंक्शन' नजर आने लगा है। 'विरोधाभास' कविता सर्वथा

साहा जी की नवीन दृष्टि है। इस कविता में साहा जी ने विरोधाभासों के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि आज लोगों की कथनी और करनी में कितना अंतर हो गया है। वह कहते हैं कुछ और करते हैं कुछ। यही स्थिति विरोधाभास के रूप में प्रकट होती है। साहा जी लिखते हैं—

‘देश की राजधानी में/ एक अजीब वाक्या नजर आया/कुछ पर्यावरण प्रेमियों ने/पर्यावरण प्रदूषण के विरोध में/ टायर जलाया।’

भ्रष्टाचार किसी भी देश के विकास में बाधक होता है। इसका उन्मूलन करके देश प्रगति की राह पर आगे बढ़ सकता है। लेकिन इसके लिए लोगों को ईमानदार बनना होगा। ‘भ्रष्टाचार’ कविता में साहा जी लिखते हैं—

‘व्यापारी, अधिकारी, नेता, सरकार/ नहीं होंगे ईमानदार तब-तक चलता ही रहेगा/ मेरा कारोबार।’

‘अपनी गठरी’ शीर्षक काव्य- संग्रह में ‘हाइकू’ का भी प्रयोग साहा जी ने किया है। इस ‘हाइकू’ में साहा जी ने वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का चित्र उपस्थित किया है, जैसे—

‘फँसते पंक्षी/ मायाजाल में/ अरे! बिग बाजार!’

साहा जी ने ‘मुक्तक’ कविता में अपने मुक्तकों के माध्यम से, कहीं तथाकथित बुद्धिजीवियों पर तंज कसा है, तो कहीं सियासतदानों के मुखौटे के भीतर की असली तस्वीर दिखाने का प्रयास किया है।

अतः हम कह सकते हैं कि पंकज साहा जी का काव्य-संग्रह ‘अपनी गठरी’ चेतनापरक यथार्थ से परिपूर्ण एक उपयोगी काव्य संग्रह है। साहित्य की थाती इस काव्य-संग्रह में श्रद्धेय रेणु के शब्दों में हम कह सकते हैं कि ‘इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी।’

सरल जीवन और महान व्यक्तित्व के धनी साहा जी का ‘अपनी गठरी’ काव्य-संग्रह निश्चय ही उनकी प्रतिभा और गहन अनुभूतियों की परिचायक है। साहा जी के शब्दों में—

‘सच्चा सुख सरल जीवन में,/ भले न सीखी दुनियादारी।/ लुभाए भले चाँदी की चमक/ प्रेम सदा पैसे पर भारी।’

संपर्क: प्राध्यापक, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज,
खड़गपुर-७२१३०१, (प.बं) मो. ९९३२९३७०९४

शोध, समीक्षण, सृजन, संचार एवं 'विद्यार्थी मंच' की संयुक्त संवाहिका 'मुक्तांचल' के माध्यम से इसकी संपादिका- जननी डॉ. मीरा सिन्हा से मेरा परिचय ईश्वरीय सुयोग से सितम्बर २०१९ में हुआ और पत्रिका का २३वाँ अंक भी देखने-समझने के लिए मिला। सुअवसर था गीतांजलि बहुभाषी साहित्यिक समुदाय, यू.के., द्वारा प्रायोजित २५वें अंतरराष्ट्रीय वार्षिक कवि सम्मेलन के समारोह का जिसमें भारत सरकार से आए अनेकानेक कवियों ने अपने काव्य पाठ किये थे। यह कार्यक्रम बर्मिंघम में भारतीय कौंसलावास के सभागार में चल रहा था। कार्यक्रम के समापन पर अपनी पुत्री चांदनी सिन्हा के साथ अपना परिचय कराते हुए पत्रिका का २३वाँ अंक भेंट किया और इच्छा व्यक्त की कि वह हिंदी के अन्य रचनाकारों से भी मिलना चाहेंगी। अर्वाचीन भारत ही नहीं वरन विश्व के अन्य देशों में भी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं मकड़जाल के संक्रमण के कारण साँस लेती पेपर पत्रिकाएँ समाप्त होती जा रही हैं एवं प्राणहीन ई-पत्रिकाओं का, फिलहाल बोल बाला है। फिलहाल मैं इस लिए लिख रहा हूँ क्योंकि मेरा यह मानना है कि इस संक्रमण का दौर २०३०-२०४० के बीच अपने ढलान पर होगा और सजीव पत्रिकाएँ अपना अभीष्ट स्थान प्राप्त करने लगेंगी। इसके साथ-साथ प्रिंटेड सामग्रियों पर डाक विभाग द्वारा भेजने की छूट समाप्त हो जाने के कारण इनका विदेशों में मिल पाना और अधिक दुष्कर हो गया है। ऐसे दौर में सजीव पत्रिका को देखने, छूने एवं उससे वार्तालाप करने का जो सुख 'मुक्तांचल' से मिला वह स्तुत्य और वंदनीय है। इसके लिए मीरा जी बधाई की पात्र हैं।

पत्रिका वर्तमान एवं भविष्य का स्थूल शरीर होती है तथा सूक्ष्म शरीर, प्राण स्पंदन, इसके संपादकीय में बसते हैं। यही कारण है कि किसी पत्रिका को देखने-पढ़ने से पहले मैं इसके संपादकीय को ध्यान से पढ़ता हूँ और अगर यह ग्राह्य नहीं हुआ तो सधारणतया, मैं आगे नहीं बढ़ता। और यही कारण है कि जब कहीं-कभी बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में प्रकाशित रामरख सिंह सहगल की पत्रिका 'चाँद' की कोई प्रति मिल जाती है तो इसके संपादकीय को जरूर पढ़ता हूँ। इस पत्रिका के संपादकों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री, सुश्री महादेवी वर्मा एवं बाल स्वतंत्रता सेनानी प्रवासियों के मसीहा डॉ. धनीराम 'प्रेम' जैसे अपने समय के महानायकों के नाम जुड़े हैं और इसने 'फांसी' जैसे विशेषांक का प्रकाशन किया। यह अंक १९२० उत्तरार्ध में प्रकाशित हुआ था जिसको ब्रिटिश सरकार ने छपते ही जब्त कर लिया था। और अभी कुछ वर्ष पहले दिल्ली के 'वाणी प्रकाशन' ने इसको एक पुस्तक के रूप में छपा था। चाँद सरीखी पत्रिकाओं के संयोजन आज के संपादकों एवं उनके मालिकों का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं ताकि लोग पत्रिकाएँ खरीदें और पढ़ें भी। इस संदर्भ में मीरा जी की लेखनी एवं उनके संपादकीय को प्रणाम है जो रोचकता एवं विषय की गंभीरता-संवेदनशीलता के बीच संतुलन बनाए रखती हैं। अंक-२४ 'हिंदी कहानी के समकाल' में मीरा जी सीधे विषयों पर आती हैं और परोक्ष रूप में यह कहती दिखती हैं कि आज की, मतलब अर्वाचीन कहानियों में 'कहन' गायब होता जा रहा है यानी कि प्रेमचंद गायब होते जा रहे हैं। इसीलिए तो वह लिखती हैं- "कहानी में कथाकार कोई 'कहन' कहता है। 'कहन' की व्याप्ति इतनी अधिक है कि वह समस्त विधाओं में अपनी पैठ बनाए रखती है। कविता हो या नाटक, उपन्यास हो या जीवनी, समाचार हो या संवाद 'कहन' एक द्रष्टव्य के रूप में कहानी को एक मुकाम पर पहुँचाकर दम लेती थी।" मतलब स्पष्ट है कि आज की कहानियों में 'कहन' का निर्वाह सजगता से नहीं हो रहा है।

खोज-पड़ताल करते-करते मैं 'विद्यार्थी मंच' संस्था तक पहुँचा और पता लगा कि यह मंच कब, क्यों और किसके लिए संगठित किया गया था। इस मंच के गठन के पीछे छिपी अवधारणा के बारे में जानकर मेरे हृदय ने मुक्त कंठ से इसके उद्देश्यों एवं इसके जनक-जननी की प्रशंसा मन ही मन में की। पहली बात तो यह कि यह मंच विद्यार्थी शब्द को इसके व्यापक स्वरूप में लेता है न कि सीमित 'छात्र' के अर्थ में। ज्ञान की खोज में लगे सभी शोधार्थी किसी न

किसी रूप में जीवंत विद्यार्थी ही होते हैं। इसकी पहली सीढ़ी होती है उपयुक्त सामग्री की उपलब्धि एवं उसका पठन-पाठन। ये सीढ़ियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं- पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, शोध, सृजन एवं प्रचार-प्रसार इसके भिन्न-भिन्न अवयव हैं। आज के क्रांतिकारी युग में लोग लिखने से पहले छपना चाहते हैं और उससे भी पहले चर्चित रचनाकार बन जाना चाहते हैं- जो साधारणतया संभव नहीं होता। जैसे सुनने की इच्छा रखना सबसे बड़ा मानवीय गुण माना जाता है; जैसा कि वाल्मीकि जी ने सीता जी के माध्यम से लिखा है वैसे ही लेखक बनने की पहली शर्त होती है अच्छा पाठक होना। इस सोच को 'विद्यार्थी मंच' ने आत्मसात कर 'मुक्तांचल' पत्रिका की पहल की, जो वंदनीय है। मैं आशा करता हूँ कि यह विचारधारा द्रुतगति से विस्तार पाएगी तथा लोगों को पठनीय सामग्री बिना किसी चमक-दमक के मिलती रहेगी किंतु सबसे अधिक आवश्यकता है कि लोगों को इसके आभास एवं संज्ञान का होना।

अंक २४ (अक्टूबर-दिसंबर २०१९) के पन्नों को कई बार उलट-पलट एवं पढ़कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि पत्रिका अपने सभी पूर्व निर्धारित उद्देश्यों पर खरी उतरती है और पाठकों को पढ़ने के लिए उत्साहित करते हुए उनको शोध-सृजन के लिए भी प्रेरित करती है। जैसे 'अन्तःपाठ' के अंतर्गत डॉ. दिविक रमेश एवं डॉ. रीता सिन्हा की दो पुरानी कहानियाँ, 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' एवं 'चीफ की दावत', की एक नूतन दृष्टि से व्याख्या। इस विचारधारा से नई सोच के जन्म होंगे, ऐसा मैं मानता हूँ। लगता है यह काम पत्रिका की पूरी टीम बड़े ही सुनियोजित ढंग से करते हुए इसमें प्रकाशित होने वाली सामग्री का चयन कर संपादक का कार्य सुगम-सरल करती है। लगभग सभी कविताओं के विषय-भाषा एवं शैली रोचक तथा सारगर्भित है जिनको बार-बार पढ़ने का मन करता है। आलेखों एवं कहानियों में 'कहन' के साथ-साथ कुछ नएपन का अहसास होता है। आमतौर से यात्रा वृत्तान्तों में सपाटबयानी ही नजर आती है किंतु विनोद साव के यात्रा-वृत्त 'तेज ओरादा कोरिशगुन्वा' ने यह सब बदल दिया है। 'तेज ओरादा कोरिशगुन्वा' यानी कि जल्दी ही फिर मिलेंगे में रोचकता, पठनीयता, इतिहास, भाषा-शैली के साथ-साथ उज्बेकिस्तान की रमणीयता के साथ पूरा न्याय करते हुए भाषा विज्ञान के पहलू को भी दुलराया है। बॉलीवुड के प्रभाव के द्वारा हिंदी के विस्तार का भी बड़ा ही सजीव चित्रण किया है इस आलेख में; विनोद साव जी को मेरी ओर से हार्दिक बधाई। इस आलेख में इतिहासकार कालिदास नाग के शोध का उल्लेख करते हुए विनोद जी लिखते हैं- 'आप जिस धरती पर खड़े हुए हैं वहाँ आर्यों का निवास था और वहाँ वेद लिखे गए थे।' मुझको यह सही नहीं लगता क्योंकि वेदों के बारे में किसी को पता ही नहीं कि ब्रह्मा जी के किस दिन के किस कल्प में इनकी रचना हुई; प्रलयोपरांत वे स्वयं इनको अपनी गर्भ में रखकर सृष्टि के पुनरावर्तन तक सोते हैं, ऐसा विभिन्न पुराणों में बताया गया है।

मुझको 'मुक्तांचल' की सबसे महत्वपूर्ण विशिष्टता इसके दो स्तंभों 'समय की शिला पर' एवं 'सरगम के सुर साधे' के पीछे निहित विचारों में लगी। इनके माध्यम से विद्यार्थियों को एक साथ सधे हुए एवं सधते हुए रचनाकारों को परखने-समझने एवं चिंतन करने की सामग्री मिलती है। मेरे विचार से इस प्रक्रिया को साध कर और अधिक बल के साथ समय के सामने लाने से ही भविष्य का साहित्य निखर सकता है।

इस अंक में पाठकों के पत्रों को पढ़ने-देखने का सुअवसर प्राप्त न हो सका जिसका खेद है। कभी-कभी बहुत ही मार्मिक-हृदयस्पर्शी पत्र भी आते हैं जिनके पाठक-प्रेषण पत्रिका के संपादक से पथप्रदर्शन एवं सलाह की अपेक्षा करते हैं। पाठक-पत्रिका के बीच भावात्मक सेतु बनाने में ऐसी प्रक्रिया का प्रारंभ करना एक अच्छी पहल हो सकती है। मेरा यह मानना है कि ऐसा करने से पाठकों एवं पत्रिका के नियमित सदस्यों की संख्या में उछाल आ सकता है।

डॉ. कृष्ण कुमार, बर्मिघम, दूरभाष: ००४४१२१४७२५४६४ ईमेल: profdrkrishna@gmail.com

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

शिक्षणपरक कार्यक्रम : (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम : (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास : (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साहित्य हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत

अफगानिस्तान के नानरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेलिजियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक...

विमल किशोर

पंख खोलूँ उड़ चलूँ



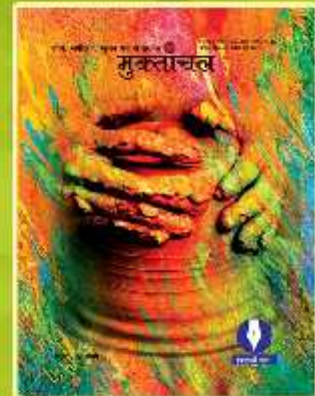
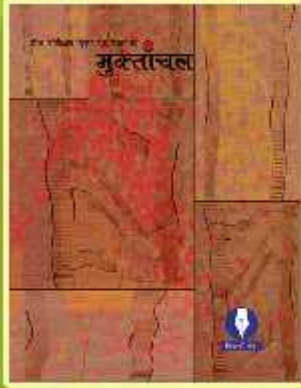
घड़ी की सूइयों पर टिकी आँखें
मुझे बेचैन करती हैं
निर्धारित करती हैं
नियंत्रित करती हैं
जिंदगी के हर लम्हे को
मेरी दिनचर्या हो या जीवनचर्या
सबको बांधती हैं
घड़ी की सूइयाँ
मैं अपने सपनों को
पंख देना चाहती हूँ
उड़ना चाहती हूँ
उड़-उड़
वहाँ पहुँचना चाहती हूँ
जो मन की चाहत है
मैं कुछ पढ़ना चाहती हूँ
मैं कुछ लिखना चाहती हूँ
मैं घर की चारदीवारी से
बाहर निकलना चाहती हूँ
मैं उनसे जुड़ना चाहती हूँ
जिन्हें मेरा इंतजार है
मैं समाज में
कुछ कर दिखाना चाहती हूँ
पर यह घड़ी
टिक-टिक करती
हर घंटे टन-टन करती

मुझे समय का अहसास कराती
हर-हमेशा याद दिलाती
कि किचेन ही तुम्हारा घर है
यही है तुम्हारा आशियाना
परिवार, समाज और तुम्हारा स्वर्ग
इसी में सिमटी है तुम्हारी दुनिया
घर परिवार का बोझ
दूधवाला, कामवाली
अखबारवाला, सफाईवाला
इन सबके साथ जितने लोग
उनकी फरमाइशें भी उतनी
और सारी दुश्चिन्ताओं का बोझ लिए
इस घड़ी के साथ
अपने को मिलाने में ही
बीत रही है सारी उम्र
कभी मन करता कि
यह घड़ी जो मुझे बांधे है
उसे पटक दूँ
सब कुछ झटक दूँ
मूवत हो जाऊँ
अपने सपनों को हवा दूँ
समय से बाहर निकलूँ
पंख खोलूँ
और उड़ चलूँ खुले आसमान में।

पंख खोलूँ उड़ चलूँ

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020



हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई, शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन, सालकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा